दक्षिणी साहित्यमाला-10

केरल संस्कृति

रचयिता

एन. वेंकटेश्वरन

प्रकाशक

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा

मद्रास

प्रकाशकीय

सभा की नयी आयोजना 'दक्षिणी साहित्यमाला' प्रकाशन के दसवें उपहार के रूप में यह **केरल संस्कृति** हिन्दी जगत को प्रस्तुत करते हुए हम आत्मतोष का अनुभव करते हैं। पूज्य बापूजी के ये प्रेरक शब्द हमारे लिए हमेशा आलोक-दर्शक रहते आये हैं—"मेरा दृढ़ मत है कि कोई संस्कृति इतने रत्नभंडार से समृद्ध नहीं है; जितनी हमारी अपनी संस्कृति। भिन्न-भिन्न धर्मों और संप्रदायों को एक सूत्र में बाँधनेवाली हमारी एक सामान्य संस्कृति है।" यही आज के प्रबुद्ध भारतीय की धारणा होनी चाहिए; तभी राष्ट्रीय चेतना की स्वस्थ परिकल्पनाएँ साकार हो उठेंगी और राष्ट्रपिता का यह श्रेयस्कर स्वप्न भी, जो 'एक हृदय हो भारत जननी' है, फल सकेगा।

सभा का दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा ही साहित्यिक एवं सांस्कृतिक समन्वय और राष्ट्रीय चेतना (भारतीयता) का प्रसार संभव है। इस संकल्प-सिद्धि के लिए हमारा यह 'दक्षिणी साहित्य-माला' प्रकाशन का प्रयास शुभ लक्षण माना जाएगा।

दक्षिण का केरल राज्य समुन्नत पर्वत-मालाओं और सतत प्रवाहशील सरिताओं से समलंकृत एवं अगाध पारावार तथा आकर्षक क्षितिज को सर्वदा चूमता हुआ सुन्दर प्रदेश है। वहाँ के अधिवासी स्त्री-पुरुष प्राचीनकाल से लेकर आज तक अपने व्यक्तित्वपूर्ण एवं संघर्षशील जीवन की विशिष्ट संस्कृति की सुरक्षा करते हुए भारतीय-संस्कृति एवं विश्व-संस्कृति का समन्वयात्मक विकास निरन्तर करते आ रहे हैं। इसका प्रामाणिक, संक्षिप्त और सुन्दर परिचय इस पुस्तक में श्री एन. वेंकटेश्वरन ने दिया है। आप सधे हुए साहित्यकार और सरस लेखक हैं। आपकी प्रकृति में ही उत्कृष्ट कलाकारिता विद्यमान है। आपकी कई रचनाएँ

हिन्दी व मलयालय में प्रकाशित हो चुकी हैं। हर्ष की बात है कि आप सभा के साहित्य-मंत्री भी रह चुके हैं। अब इस स्तुत्य प्रकाशन के लिए आप अवश्य हमारी बधाई और धन्यवाद के पात्र हैं।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार) के दक्षिण क्षेत्रीय अधिकारी एवं हिन्दी के बड़े विद्वान श्री पी. आर. भास्करन नायर ने इस पुस्तक के लिए एक संक्षिप्त एवं सारपूर्ण भूमिका लिख देने की कृपा की है। अत: उनके प्रति हम अत्यन्त आभारी हैं।

हमारा पूर्ण विश्वास है कि इस उपयोगी पुस्तक का हिन्दी जगत में समुचित स्वागत होगा और हमें इस दिशा में प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

—प्रकाशक

भूमिका

भारत की सामासिक संस्कृति का अंग केरल संस्कृति स्वयं अपने में एक संश्लिष्ट संस्कृति है। बहुत प्राचीन काल से ही केरल देशी और विदेशी संस्कृतियों का संगम स्थान रहा है। प्राकृतिक सुषमा का आगार केरल प्रागैतिहासिक समय से ही अपने बहुमूल्य मसालों के लिए प्रसिद्ध था। इसलिए अरब, बाबिलोनिया, फिनीशिया, यूनान, रोम, चीन आदि देशों के लोगों का केरल के कुछ बन्दरगाहों और उन के आसपास के स्थानों से व्यापारिक संबन्ध था जिसके परिणाम स्वरूप उनके आचार-विचार, रीति-रिवाज़, रंग-ढंग, विचारधारा और भाषा का प्रभाव केरल की सभ्यता एवं संस्कृति पर पड़ा और केरल ने अपनी अदमनीय जिज्ञासा के कारण अपने लिए अनुकूल एवं उपयोगी तत्वों को आत्मसात् किया।

ईसा के तीन-चार शताब्दियों के पूर्व ही आर्य-ब्राह्मणों का केरल में आगमन हुआ। उस समय यहाँ के आदिम निवासी पाणर, वेटर, कुरवर, परयर आदि थे जो जाति-पांति, सांप्रदायिकता आदि से मुक्त स्वतन्त्र समाज में जीवनयापन करते थे। यद्यपि विशिष्ट धार्मिक दर्शन के अनुयायी नहीं थे तो भी द्राविड़-प्रणाली की पूजा-उपासना आदि यहाँ के आदिम निवासी करते थे। संघकाल तक जन साधारण की यही स्थिति रही। धीरे-धीरे आर्यब्राह्मणों की शक्ति बढ़ी और उन्होंने यहाँ के लोगों को अपने अधीन कर लिया। उन्होंने तत्कालीन विचारधारा के अनुकूल नियम बना कर शासन किया और नये आचार-विचारों और रीति-रिवाज़ों के साथ अपनी भाषा संस्कृत का भी प्रचार किया।

धार्मिक क्षेत्र में तो केरल की समन्वयात्मिका वृत्ति ने अद्भुत काम कर दिया। हिन्दू धर्म के समान ही यहाँ जैन एवं बौद्ध धर्म का भी काफ़ी प्रचार हुआ था। लेकिन धीरे-धीरे इन दोनों धर्मों का ह्रास होता गया और हिन्दू धर्म ने विजय-वैजयन्ती फ़हरायी। अद्वैत दर्शन के

उन्नायक श्री शंकराचार्य का नाम इस प्रसंग में विशेष स्मर्तव्य है। केरलीय संस्कृति ने सब धर्मों के उदात्त तत्वों को आत्मसात करके अपने को पुष्ट किया।

ईसाई धर्म को पश्चिमी देशों में सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होने के पहले ही केरल ने गले लगा लिया था। इस्लाम धर्म का भी उसके प्रारंभ काल से केरल में प्रचार हुआ। इस देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, एक दूसरे के पास, मन्दिर, गिरजाघर और मसजिद का जो सह-अस्तित्व है, वह केरलीय जनता की धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का उत्तम निदर्शन है।

केरल का यूरोपीय संस्कृति से भी कम संबंध नहीं रहा है। यद्यपि ईसा के पूर्व की शताब्दियों में भी पश्चिमी देशों के साथ केरल का वाणिज्य संबन्ध रहा था तो भी पन्द्रहवीं सदी से पुर्तगालियों, डच्चों और अंग्रेज़ों से केरल का निकटतम संबन्ध हो गया और अन्त में अंग्रेजों ने न केवल व्यापार के क्षेत्र में बल्कि शासन के क्षेत्र में भी अपना सिक्का जमा दिया। इन पश्चिमी देशों के लोगों के संपर्क से भी केरलीय संस्कृति ने भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, स्थापत्य आदि कई क्षेत्रों में अपूर्व विकास पाया।

प्राकृतिक सुषमा की दृष्टि से केरल सारे भारत में अपना अलग स्थान रखता है। शिक्षा के क्षेत्र में, छोटा केरल-राज्य अन्य राज्यों के आगे है। मस्तिष्क शक्ति, धार्मिक उदारता, नयेपन के प्रति अदम्य आकर्षण, परिश्रमशीलता जैसे गुणों की दृष्टि से भी केरल के लोग भारत के किसी अन्य राज्य के लोगों के पीछे नहीं है। विभिन्न संस्कृतियों को आत्मसात् करने के परिणाम-स्वरूप यहाँ के साहित्य, संगीत, चित्र-कला, स्थापत्य-कला, नृत्य-कला आदि का अपना अलग व्यक्तित्व विद्यमान है। 'कथकलि' तो केरल की निजी संपत्ति कही जा सकती है।

विद्वान लेखक श्री एन. वेंकटेश्वरन ने अपनी रचना 'केरल संस्कृति' में केरलीय संस्कृति के उल्लेखनीय सभी तत्वों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। बारह अध्यायों में केरल के संबंध में जानने योग्य सभी बातों का संक्षिप्त परिचय दिया है जिससे भारत के अन्य राज्यों के लोग लाभान्वित हुए बिना नहीं रहेंगे। केरल के निवासी, उनके आचार-विचार, खान-पान, पर्व-त्योहार, मन्दिर और मेले, शिक्षण संस्थाएँ, भाषा और साहित्य आदि की झाँकी प्रस्तुत करके पुस्तक की उपादेयता बढ़ाने में लेखक ने सफलता पायी है। प्रांजल भाषा एवं प्रसादपूर्ण और रोचक शैली में लेखक ने केरलीय संस्कृति की कथा कही है।

भावनात्मक एकता के द्वारा राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाना इस युग का तकाज़ा है। ऐसी स्थिति में यदि हम अपने ही राष्ट्र के विभिन्न राज्यों की सांस्कृतिक धाराओं से अपरिचित रहें तो भारत की सामासिक संस्कृति को पूर्णतया पहचान नहीं पायेंगे। इसलिए प्रत्येक राज्य की संस्कृति के संबन्ध में सम्यक् जानकारी प्रदान करनेवाली रचनाओं की इस समय बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति में 'केरल-संस्कृति' निस्सन्देह योगदान दे रही है।

हिन्दी के माध्यम से दाक्षिणात्य संस्कृतियों का परिचय उत्तर भारतीयों को देने की दिशा में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा का कार्य सराहनीय है। प्रसन्नता की बात है कि इस परंपरा की पुस्तकों की शृंखला में 'केरल संस्कृति' एक कड़ी और जोड़ रही है।

मेरी पूरी आशा ही नहीं, बल्कि विश्वास है कि श्री वेंकटेश्वरन की इस श्रेणी की पहली रचना 'केरल वैभव' के समान ही जिज्ञासु पाठक 'केरल संस्कृति' का भी भव्य स्वागत करेंगे।

मद्रास,
दि. 5-1-'72

पी. आर. भास्करन नायर
(क्षेत्रीय अधिकारी (द.), केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय)

विषय-सूची

मानव और संस्कृति

यह समस्त विश्व अपने दृश्य और अदृश्य रूप में अभिव्यक्त है। इसका दृश्य रूप जितना ही आकर्षक और अभिराम है, अदृश्य रूप भी उतना ही अज्ञात और रहस्यमय है। विश्व के रहस्यपूर्ण कारखाने में जो सुन्दरतम सृष्टि-समूह प्रतिपल प्रस्तुत एवं प्रदर्शित किया जा रहा है, उसमें मानव ही सबसे सुधरा हुआ संस्करण है। मानव को मन, प्राण और पञ्च-भूतों की आश्चर्यमय समष्टि अथवा समन्वय कह सकते हैं। प्राचीन आचार्यों और मनीषियों का अभिज्ञ वचन है कि 'सोयम् आत्मा मनोमयः प्राणमयः वाङ्मयः'।

अनादि काल से लेकर देश और काल की परिसीमा की बिलकुल परवाह किये बिना, मानव विश्व के विचित्र रंगमंच पर उपस्थित होकर अपने मन के मनन और चिन्तन के द्वारा बहुत सोचता आ रहा है। वह अपनी अनुपम प्राण-शक्ति के बल पर तथा असीम भौतिक पदार्थों के सहारे विविध कर्म करता हुआ निरन्तर अग्रसर हो रहा है। इस प्रकार उसके सोचने और करने की प्रक्रियाओं के फल-स्वरूप जो कुछ जगत् में उपलब्ध हुआ है, प्रस्तुत हुआ है और प्रकट हुआ है, वही मानव की संस्कृति का दृश्य स्वरूप है।

वास्तव में, इस विश्व के गंभीर एवं निगूढ़ रहस्यों का कोई अन्त नहीं है। मानव यथासंभव उनको समझने और सुलझाने के लिए सतत साधना-बद्ध रहता है। इस पृथ्वी के विभिन्न प्रदेशों में जहाँ-जहाँ मानव अधिवास करता आया है, वहाँ हर कहीं वह अपनी कोई न कोई संस्कृति छोड़ आया है। इस प्रकार देश-देश में उसकी संस्कृति पनप उठी। ऐसी अनेक संस्कृतियों का सम्मिलित इतिहास ही मानव के विकास की सरस कथा और विशद व्याख्या है।

विश्व के विचित्र एवं विभिन्न अनुभवों और नियमों की बुद्धि-परक व्याख्या ही मानवीय संस्कृति की अमूल्य विशेषता है। मनुष्य की बुद्धि जीवन के अनेक तत्वों और मन्त्रों का आविष्कार करती है, जिनको वह अपनी विरासत के लिए सुरक्षित रखती है। इसलिए धर्म, ज्ञान, नीति, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान आदि के अक्षय कोष मानव को उपलब्ध हुए हैं। इनमें प्रत्येक के भीतर मानव की संस्कृति का विस्मयपूर्ण इतिहास सूक्ष्म रेखाओं में प्रसुप्त रहता है। उन सभी सूक्ष्म रेखाओं को स्थूल सौन्दर्य देकर अभिव्यक्त करना सरल कार्य नहीं है।

विज्ञान के द्वारा उपलब्ध असंख्य आविष्कारों के पीछे भी मानव की धर्म और नीति पर आधारित उदात्त प्रेरणा अवश्य रहती है। यही प्रेरणा उसकी संस्कृति की अक्षय पूँजी है। इसी के द्वारा मानव भौतिक उन्नति करके सभ्यता की

मंजिल के समुन्नत सोपानों पर चढ़ता रहता है। सभ्यता संस्कृति की नश्वर पुत्री है, जो अपनी माता के समान शाश्वत बनने की साधना कर के देश और काल के आघातों से यथासमय मर मिटती है। सभ्यता की लाश पर संस्कृति लास्य-नृत्य करती हुई आगे बढ़ती है। उसका विनाश कदापि नहीं होता, मगर विलयन मात्र होता है। संस्कृति का रूपान्तर और देहान्तर भले ही होता हो, मगर उसका सर्वनाश होना संभव नहीं है।

भौतिक स्तर पर प्रस्तर, लकड़ी, धातु, रंग आदि के आश्रय से मानव जो सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत करता है उनके भीतर भी उसकी संस्कृति की कलात्मक अभिव्यक्ति उपलब्ध होती है। इस प्रकार मानव के भौतिक इतिहास का सम्बन्ध भी उसकी संस्कृति से सर्वथा लगा हुआ रहता है। मानव की समस्त कृतियों और कलात्मक रचनाओं के मूल में प्रकृति की प्रबल प्रेरणा अवश्य रहती है। अतः प्राकृतिक और भौगोलिक परिवेश और परिस्थिति की प्रेरणा के बिना मानव की संस्कृति का कोई रूप नहीं बन सकता है और उसका निरन्तर विकास भी नहीं हो सकता है।

प्रादेशिक संस्कृति की प्रवाहशील नदी देश और काल रूपी दो किनारों की निश्चित सीमा के भीतर सिकुड़कर अपने संकुचित मार्ग से बढ़ती रहती है और मानव-संस्कृति की विशाल एवं

अगाध महानदी में जाकर विलीन होती है, जिसके दो किनारे मावन का मन और कर्म है और जिसकी गहराई, लम्बाई, चौड़ाई, गरिमा, महिमा आदि नापने का विश्वसनीय मापदण्ड मानव ही के सुसंस्कृत एवं स्वच्छ मानस की परख और चरित्र की गठन मात्र है।

इस प्रकार यह बात सर्वदा स्मरणीय है कि प्रकृति, इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, जीवन आदि क्षेत्रों में, भिन्न-भिन्न देशों में तथा कालों में उत्पन्न हुई मानव की समस्त स्मृतियाँ, कृतियाँ और रचनाएँ उसकी विकासोन्मुख एवं अक्षय संस्कृति का यथासंभव परिचय प्रदान करनेवाली विशिष्ट विभूतियाँ हैं। उनका अध्ययन, अनुसंधान, अनुशीलन और आलोचना किये बिना किसी प्रदेश की संस्कृति का स्वरूप और महत्व समझ लेना असंभव कार्य है।

किसी प्रदेश के लोगों की संस्कृति का वर्तमान रूप आवागमन एवं आदान-प्रदान के पश्चात् परिणत प्रत्यक्ष रंगीन चित्र मात्र होता है, जिसके विकास का इतिहास अतीत के अज्ञात गर्भ में निगूढ़ रहता है। उस अद्भुत इतिहास की गहराई में साहस करके घुस जाने से बहुत से उज्ज्वल मोती मिल सकते हैं। हाँ, उन मोतियों के साथ कंकड़-पत्थर एवं कीचड़ भी आ जायें तो आश्चर्य नहीं है। 'सन्त-हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि-विकार' वाली सूक्ति के अनुसार प्रत्येक देश की

संस्कृति के विषय में 'त्याज्य' और 'ग्राह्य' का विवेक-पूर्वक पालन करना सर्वथा समुचित होगा, अन्यथा मानव और उसकी संस्कृति को सम्यक् रूप से समझ लेना कदापि संभव नहीं होगा। नश्वर मानव के शाश्वत स्मारक उसकी संस्कृति की विशाल गोद में संस्थापित हैं। उनका अध्ययन सर्वदा आनन्द-दायक है जिससे मनुष्य अपने आपको भी अमरत्व का सच्चा अधिकारी मानने लगता है।

अतः केरल-संस्कृति का परिचय पाने के लिए उस प्रदेश की प्राकृतिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं कलात्मक पृष्ठ-भूमि का अध्ययन करना परम आवश्यक है। सब से पहले हम केरल का भौगोलिक एवं प्राकृतिक परिचय पाने का प्रयत्न करें और उसके पश्चात् अन्यान्य विषयों पर यथास्थान विचार-विमर्श करें जिससे केरल की जन-संस्कृति का समग्र रूप समझना संभव हो सके।

केरल राज्य का परिचय

भौगोलिक एवं प्राकृतिक पृष्ठभूमि

केरल राज्य भारत-भूमि के पश्चिम-दक्षिण कोने का एक अत्यन्त उपजाऊ एवं अनुपम रमणीय प्रदेश है। यह छोटा-सा राज्य अपनी समुन्नत पर्वत-मालाओं, हरे-भरे एवं निबिड जंगलों, कल-कल करती नाचती-थिरकती नदियों, शस्य-श्यामल खेतों तथा सदा-बहार नारियल, सुपारी, कटहल, आम आदि के फल-संपन्न तरु-समूहों को लिये प्राकृतिक सुषमा की अद्‌भुत और अनुपम प्रदर्शिनी के रूप में विराजमान है। इस असाधारण सुन्दर छोटे से राज्य की पश्चिमी सीमा में गरजता हुआ अरब सागर सदा-सर्वदा उत्तुग तरंगें और उमड़ती लहरें मारता दिखाई देता है। इस प्रदेश की पूरब की ओर भारत के पश्चिमी घाट के पहाड़ों की निबिड़ पंक्तियाँ आकाश को चूमने की चेष्टा करती नजर आती हैं। इन्हीं पहाड़ों को 'सह्य-पर्वत-माला' कहते हैं, जिनके विषय में भारत के अत्यन्त प्राचीन पौराणिक आख्यानों तथा सुविख्यात संस्कृत-काव्य-ग्रन्थों में भी अनेकों आकर्षक एवं मनोरंजक वर्णन प्रचुर मात्रा में विद्‌यमान हैं।

केरल राज्य के उत्तर भाग में कन्नड भाषा-भाषी लोगों का मैसूर राज्य है। उस प्रदेश की भौगोलिक और प्राकृतिक

स्थिति भी केरल के समान है। आधुनिक भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी, भाषावार प्रान्तों का नवीन रूप से निर्माण और संगठन होने तक, वर्तमान केरल राज्य के दक्षिण में तमिलनाडु का जो कान्याकुमारी ज़िला है, वह केरल प्रदेश के अन्तर्गत ही माना जाता था। उस समय केरल की दक्षिणी सीमा में भी समुद्र रहता था। लेकिन इस समय केरल राज्य के दक्षिण में तमिलनाडु का वही कन्याकुमारी ज़िला विद्यमान है। सांस्कृतिक दृष्टि से वर्तमान कन्याकुमारी ज़िला के अधिवासी अनेकों लोग आज भी अपने को केरलीय ही मानते हैं और केरलीय आचार-विचार, त्योहार-पर्व, वेष-भूषा आदि छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं यद्यपि उनमें सैकड़ों की मातृ-भाषा तमिल ही है। इसके अलावा कन्याकुमारी ज़िला में बहुत से लोग अब भी मलयालम को ही अपनी मातृ-भाषा मानते हैं, क्योंकि वे केरलीय संस्कृति की गोद में पले हुए हैं।

आधुनिक केरल राज्य तो अरब समुद्र के किनारे किनारे होकर उत्तर दिशा में 'कासरकोट' से लेकर दक्षिण में 'पारश्शाला' तक फैला हुआ प्रदेश है, जो बहुत अधिक चौड़ा न होने पर भी काफ़ी लंबा अवश्य है। पहले ही बताया जा चुका है कि इस राज्य की पूर्व सीमा में सर्वत्र पहाड़ ही पहाड़ हैं, जो ऊँची प्राकृतिक दीवारों की तरह पड़ोसी प्रदेशों से इसको अलग किये खड़े हैं। उक्त पर्वतों की शाखा-प्रशाखाएँ केरल राज्य के अन्दर भी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। उन पर्वत-

श्रेणियों के नीचे की कतिपय छोटी बड़ी तराइयों के रूप में यह सारा प्रदेश निराले ढंग से अपनी अनुपम सुषमा का प्रदर्शन करता रहता है। केरल राज्य के पूरब के उन गगनचुंबी पहाड़ों को पार करने पर उत्तर कोने में मैसूर राज्य मिलता है और शेष भागों में तमिलनाडु के कोयम्बत्तूर, मदुरा, रामनाड, तिरुनेलवेली, कन्याकुमारी आदि ज़िले विद्यमान हैं। अत्यन्त आधुनिक केरल राज्य का क्षेत्रफल 38797 वर्ग किलोमीटर अथवा 15003 वर्गमील है।

जिस प्रकार केरल राज्य 'पहाड़ों का देश' कहा जा सकता है, उसी प्रकार इसको 'नदी-नालों का क्रीड़ा-क्षेत्र' भी कह सकते हैं; क्योंकि यहाँ सैकड़ों छोटी परन्तु गहरी नदियाँ पूरब के सह्य-पहाड़ों से निकलकर पश्चिम की ओर निरन्तर बहती रहती हैं। केरल की ये नदियाँ जल के अभाव के कारण कभी सूखती नज़र नहीं आती हैं, क्योंकि यहाँ साल भर में छः सात महीनों तक बराबर वर्षा होती ही रहती है। पूरब से निकलकर पश्चिम की तरफ़ प्रवाहित होनेवाली ये सलिल-भरी सुन्दर सरिताएँ या तो सीधे जाकर अरब समुद्र की गोद में शरण लेती हैं या उसके किनारे की छोटी बड़ी खाड़ियों अथवा झीलों में गिरकर आत्मसमर्पण कर डालती हैं। इन नदियों के संगमों पर खाड़ियों की विशेष स्थिति के कारण केरल की पश्चिम सीमा में समुद्र के किनारे कुछ नैसर्गिक एवं उत्तम बन्दरगाह भी बने हुए हैं। ऐसे बन्दरगाहों में बेक्कल, कण्णन्नूर, तलश्शेरी,

बड़गरा, कोषिक्कोड, तिरूर, कोट्टुंगल्लूर, कोचिन्, आलप्पी, कोल्लम, तिरुवनन्तपुरम्, कोवलम् आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें कोचिन्, कोट्टुंगल्लूर और कोषिक्कोड अत्यन्त प्राचीन काल से विदेशी-व्यापार तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इन बन्दरगाहों के ज़रिए विदेशी-संस्कृतियों का स्वागत केरल-प्रदेश ने अनेकों बार किया था, जिसका विवरण अन्यत्र दिया जायगा। इस समय इनमें कोचिन् को ही सबसे श्रेष्ठ बन्दरगाह मानते हैं।

भारत के बड़े से बड़े बन्दरगाहों में 'कोचिन्' भी एक बताया जाता है और इसको 'बन्दरगाहों की रानी' की पदवी भी दी जाती है। आजकल कोचिन् का महत्व अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि से भी बहुत बड़ा माना जाता है। योरोप के विशेषज्ञों का कथन है कि भारत के बम्बई बन्दरगाह से बढ़कर कोचिन् में एक उत्तम बन्दरगाह की समस्त सुविधाएँ संप्राप्त होती हैं, क्योंकि वही सचमुच पूर्णरूप से एक प्राकृतिक बन्दरगाह है। नैसर्गिक होने के अलावा मानव के अथक प्रयत्नों ने भी इधर कुछ सालों से 'कोचिन्' को बहुत अधिक सुधारा और बढ़ाया अवश्य है। कोचिन् के पूरब की तरफ़ पहले जो झील थी वह बहुत ही उथली थी। लेकिन कुछ वर्षों से मानव के प्रशंसनीय प्रयत्नों के कारण उस झील को समुद्र की सी गहराई प्राप्त हुई और उसके बीच में मानव-निर्मित एक छोटा-सा, नवीन, सुन्दर एवं सुख-सुविधाओं से संपन्न द्वीप या

टापू भी बसाया गया है। कोचिन् के इसी अभिनव द्वीप को 'विल्लिंगटन द्वीप' (Wellington Island) कहते हैं। इसी द्वीप में हवाई जहाज़ों का अड्डा, रेलवे स्टेशन, नाविक-केन्द्र, समुद्री व्यापरियों के बड़े-बड़े गुदाम, हार्बर एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़िस आदि भी बने हुए हैं। यहीं नाविक शिक्षा का सर्वप्रथम कालेज भी खुला हुआ है। झील के पूरब के किनारे में बसे एरणा-कुलम शहर से विल्लिंगटन द्वीप तथा पश्चिम किनारे के प्राचीन शहर 'कोच्चिन्-मट्टान्चेरी' तक पहुँचने के लिए दो बड़े-बड़े पुल भी झील के ऊपर बने हैं। यह अभिनव द्वीप ऐसी जगह पर बना है कि समुद्र से बड़े-बड़े जहाज़ भी इसके तीनों तरफ़ झील में आकर विश्राम ले सकते हैं और द्वीप के ठीक किनारे पर लगे रह सकते हैं। इसलिए कोचिन् का बन्दरगाह प्रकृति की कृपा और मानव के प्रयत्न के फलस्वरूप अत्यन्त सुन्दर, सर्वथा उपयोगी एवं बहुत अधिक संपन्न बना हुआ है। भारत में इस समय कोचिन् की बराबरी करने लायक दूसरा बन्दरगाह शायद ही होगा। स्वतन्त्र भारत में समुद्री व्यापार और जल-सेना की दृष्टि से भी कोचिन् का बड़ा महत्व है। प्राचीन काल के निर्वासित यहूदियों का अभय-केन्द्र कोचिन् रहा था जिससे इस शहर में अब भी कई यहूदियों के कुटुंब रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विश्व के व्यापारियों के विपुल समाज में कोचिन् का नाम केरल राज्य से भी बढ़कर विख्यात हो गया है।

केरल-प्रदेश की जमीन बड़ी उपजाऊ है। अतः केरल को नदियों, जंगलों, खेतों और बागों से भरी हुई संपन्न वसुन्धरा मानने में किसी प्रकार का मतभेद होना संभव नहीं है। यहाँ की सतत प्रवाहशील सरिताएँ पहाड़ों से सोना, अभ्रक, मोनोज़ाइट आदि अनेक बहुमूल्य धातुएँ तथा खनिज पदार्थ लाकर लोगों को देती रहती हैं। केरल के जंगलों में पाये जानेवाले हाथी, विविध प्रकार के चीते, बाघ, हिरण, खरगोश आदि जानवर तथा कई प्रकार के उपयोगी पेड़-पौधे और औषधियाँ भारत-भर की बहुमूल्य संपत्ति हैं। इन पहाड़ी जानवरों में हाथी ही मुख्य है। हाथी को केरल की वन-भूमियों की अद्‌भुत एवं अनुपम विभूति मानते हैं। यहाँ के जंगलों में सागवान, इरुमुल्लु, तम्बकम्, अयनी वग़ैरह भवन-निर्माण के लिए उपयोगी वृक्ष तथा इलायची, काली मिर्च, अदरक, लवंग आदि बहुमूल्य सुगंधित पदार्थ प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। यहाँ के सर-सब्ज खेतों में मुख्यतः धान की ही खेती की जाती है। परन्तु धान के अलावा ईख, उडद्, तिल, मूलकन्द, हल्दी, अंगूर, चाय के पत्ते, कहवा के बीज वग़ैरह भी केरल में खूब पैदा होते हैं। केरल के फलदायक पेड़ों में नारियल ही सर्वप्रधान है। नारियल के पेड़ को केरल के लोग 'कल्पतरु' मानते हैं और अपने बाग-बगीचों में भरसक उसकी खेती किये बिना नहीं रहते हैं। अतएव केरल में सर्वत्र नारियल के पेड़ों के जंगल ही जंगल दिखाई देते हैं और इस प्रदेश को विदेशी लोग 'नारियल का

राज्य' भी कहा करते हैं। केरल में ऐसे कई प्रकार के केले के पौधे मिलते हैं, जिन के फल अत्यन्त मीठे और निराले होते हैं और जो दुनिया में अन्यत्र शायद ही पाये जाते हैं। आम, कटहल, सुपारी, रबर आदि के पेड़ ही नहीं, बल्कि बाग भी यहाँ बहुत मिलते हैं। प्राचीन काल तथा आधुनिक काल के कितने ही देशी एवं विदेशी यात्रियों ने इस सुन्दर प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा और वैभव से मुग्ध होकर इसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

केरल जैसे पश्चिम समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की प्राकृतिक सुषमा और भौगोलिक स्थिति ने समूचे भारतवर्ष के राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को बनाने में सचमुच बड़ा योग दिया है। यहाँ के जंगलों के सुगंधित द्रव्य इतने प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुए कि उन्हींके अदम्य प्रलोभन में पड़कर महात्मा ईसा से कई शताब्दियों के पहले से ही पृथ्वी के विविध भागों के विदेशी व्यापारी अपने जलयानों द्वारा पश्चिमी तट पर उतरते और व्यापार के बहाने सांस्कृतिक आदान-प्रदान करते रहे। सन् 52 में सबसे पहले महात्मा ईसा के वरिष्ठ शिष्यों में 'सन्त थोमस' केरल में ही आकर अपने नये धर्म का प्रचार करने लगे थे, जिस से आज भी संसार के ईसाइयों में सब से प्राचीन ईसाई केरल के भी माने जाते हैं। अतः सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसका विशेष महत्व है। केरल के बन्दरगाहों ने ही अनेकों विदेशियों को भारत की पवित्र भूमि पर पैर रखने का

सुगम मार्ग प्रदान किया था। यदि प्रकृति ने केरल-प्रदेश को कोई दूसरा रूप प्रदान किया होता तो संभवतः केरल और भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास कुछ और ही हो जाता!

ऐतिहासिक परिचय

मानव-संस्कृति के विशेषज्ञों का कथन है कि किसी राज्य की संस्कृति का गहरा सम्बध उस देश के प्राचीन इतिहास की स्थिति-गतियों से सर्वथा बना रहता है। अतः केरल की संस्कृति का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए उस राज्य की प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिस्थिति की जानकारी जितनी आवश्यक है, उस से कहीं बढ़कर वहाँ की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का ज्ञान प्राप्त करना बहुत ही अनिवार्य है। पौराणिक दन्त-कथाओं और प्रचलित जन-श्रुतियों के आधार पर केरल का प्राचीनतम इतिहास त्रेता-युग में प्रारंभ होता है। केरल के आदि-शासकों में राजा 'महाबलि' का नाम सब से अधिक प्रेम और आदर से लिया जाता है। भगवान् विष्णु को 'वामन्' के रूप में अवतार लेकर दान माँगने के उपलक्ष्य में उन्होंने अपना तमाम राज्य दे दिया था और स्वयं पाताल की तरफ़ प्रस्थान किया था।

सब से श्रेष्ठ 'भूदान-यज्ञ' केरल के उसी प्राचीन शासक ने किया था, ऐसा अब के सर्वोदय नेता लोग भी अकसर कहा

करतें हैं। केरल के लोगों का विश्वास है कि महाबलि केरल के एक उत्तम, लोक-प्रिय, उदार एवं परम दानशील महात्मा राजा थे। उनके प्रशासन-काल में केरल की प्रजा सर्वथा सुखी, सम्पन्न एवं स्वस्थ रहा करती थी। उनकी राजधानी 'तृक्काक्करा' नामक स्थान पर बनी थी, जहाँ इस समय भी उसी नाम का एक गाँव बसा हुआ है। 'तृक्काक्करा' आधुनिक कोचिन् के पूरब की तरफ़ स्थित प्रसिद्ध शहर 'एरणाकुलम' के उत्तर-पूरब की तरफ़ का छोटा-सा गाँव है। इस समय भी भगवान् 'वामन्' का एक भव्य मन्दिर वहाँ विद्यमान है। लोग उस मन्दिर को महाबलि के भूमि-दान का स्मृति-चिह्न मानते हैं और आज भी महाबलि के सुशासन और सुख-राज्य के संस्मरण के रूप में प्रतिवर्ष 'ओणम्' का त्योहार घर-घर मनाते हैं। उस अवसर पर इसी मन्दिर के देव 'तृक्काक्करप्पन्' अथवा 'वामन्' की मिट्टी की मूर्ति बनाकर पूजा करने का क्रम सभी घरों में चालू है। यद्यपि इस प्रचलित कथा और प्रथा का कोई *ऐतिहासिक अथवा पौराणिक प्रमाण नहीं मिलता है, तो भी केरल के लोग इन बातों को आधुनिक युग में भी विशेष महत्व अवश्य देते हैं।

द्रविड-सभ्यता का युग

'केरलोत्पत्ति', 'केरल महात्म्यम्' आदि संस्कृत-भाषा में

*प्रमाण स्वरूप उस शासन की स्मृति के लिए बनाये गये लोक-गीत मात्र हैं। 'मावेली नाडूवाणीड़म कालम्' आदि।

जन-श्रुति के आधार पर लिखे कई ग्रन्थों में केरल के संबन्ध में यह बताया गया है कि यह राज्य महर्षि परशुराम ने तपस्या करके समुद्र से निकाल लिया था और अपने साथी आर्य-जाति के ब्राह्मणों को, स्वयं मातृ-हत्या के पाप से मुक्त होने के उद्देश्य से अपना यह सारा नवीन भू-प्रदेश दान कर दिया था। प्रायः 'परशुराम-क्षेत्र' 'भार्गव भूमि' आदि नामों का प्रयोग केरल के विषय में लिखे कई ग्रन्थों तथा काव्यों में कई प्रसंगों में पाया जाता है। उन ग्रन्थों से प्रभावित होकर आधुनिक काल के अनेकों कवि और विद्वान लोग भी केरल के बदले इस राज्य को उन्हीं नामों से अभिसम्बोधित करने में बड़े गर्व का अनुभव करते हैं। हो सकता है कि किसी 'परशुराम' नामक महापुरुष ने सब से पहले पूर्वी पहाड़ों को पार करके यह भूमि देखी होगी और अपने ही प्रयत्नों से इसको अपनी जाति के मनुष्यों से आबाद किया होगा। अतः आर्यों के आगमन के पहले के लोगों की बात अज्ञात मानी गयी थी।

'परशुराम' द्वारा केरल-भूमि को 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' को दान में प्रदान करने की बात ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित न होने पर भी यह निश्चित रूप से साबित हो चुकी है कि महाबलि के बाद नम्पूतिरी-ब्राह्मण-लोग ही केरल में शासन करते थे। उनके पहले के लोगों के इतिहास और राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई विश्वास करने योग्य प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। यदि आर्यों के आगमन के पहले ही द्राविड लोग यहाँ

रहते थे और द्रविड़-संस्कृति का प्रचार और प्रसार दक्षिण भारत में सर्वत्र विद्यमान था तो केरल भी आर्य जाति के नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के शासन के अधीन हो जाने के पहले द्रविड़ सभ्यता और संस्कृति का मुख्य क्षेत्र रहा होगा। द्रविड़-संस्कृति का सम्बन्ध विश्व की प्राचीनतम सैन्धव-सभ्यता और संस्कृति से जोड़ा जाता है, जिससे हमें यह अनुमान भी करना पड़ता है कि केरल में भी आर्यों के आगमन के पहले उसी सैन्धव अथवा द्रविड़ सभ्यता का अस्तित्व प्रबल रहा होगा। केरल के लोगों में प्रचलित कई धार्मिक, सामाजिक एवं कौटुम्बिक विचारों, आचारों और विश्वासों से भी प्रस्तुत अनुमान को बहुत अधिक समर्थन और पुष्टि मिलती है। लेकिन खेद की बात है कि द्रविड सभ्यता के पहले की हालत का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है।

रक्षापुरुषों का शासन-काल

माना जाता है कि नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के शासन-काल में राज-काज की बहुत अच्छी व्यवस्था रही थी। वे राज-काज चलाने में अत्यन्त निपुण थे। केरल प्रदेश में उनके कुल चौंसठ गाँव थे जिनमें प्रत्येक गांव से एक-एक सुयोग्य पुरुष प्रतिनिधि के रूप में चुना जाता था। वही योग्य व्यक्ति वहां का शासन करता था। उन दिनों प्रादेशिक-दृष्टि से उन चौंसठ गाँवों के चार मुख्य विभाग बनाये गये थे। ऐसे प्रत्येक विभाग को 'तळि'

कहा करते थे। उन विभागों के प्रतिनिधि 'तळियातिरी' कहलाते थे। गाँवों तथा 'तळियों' के अधिपतियों द्वारा चुने जानेवाले प्रमुख प्रतिनिधि ही केरल के विशाल प्रदेश के सर्वाधिपति प्रशासक बनते थे, जिनको 'रक्षा-पुरुष' का नाम दिया जाता था। समूचे केरल का सबसे बड़ा प्रशासक वही 'रक्षा-पुरुष' माना जाता था। उसका शासन-काल बारह वर्षों तक निर्धारित था। उक्त अवधि के बाद नया व्यक्ति रक्षा-पुरुष के रूप में चुना जाता था। नम्पूतिरी-ब्राह्मणों द्वारा प्रचलित यह 'प्रतिनिधित्व-पूर्ण शासन-प्रणाली' बहुत वर्षों तक सुचारु रूप से कायम रही। इतिहासज्ञ विद्वानों का कथन है कि सम्राट अशोक के कुछ शिला-लेखों में केरल के उन 'रक्षा-पुरुषों' के प्रशासन का स्पष्ट संकेत मिलता है।

पारस्परिक स्पर्धा और आपसी झगड़ों के कारण नम्पूतिरियों की यह चुनाव-प्रथा और शासन-तंत्र धीरे-धीरे कमज़ोर और बेकाम पड़ गये। फिर उन्होंने अपनी एक विराट सभा में यह निश्चय किया कि केरल के बाहर से किसी सुयोग्य क्षत्रिय राजा को यहाँ बुला लाकर बारह साल तक उसके पास केरल के प्रशासन का भार पूर्ण रूप से सौंप दिया जाय और उस निश्चित अवधि के बाद किसी दूसरे राजा को कहीं से बुला लिया जाय। इस नवीन निर्णय के अनुसार बारी-बारी से एक न एक राजा को केवल बारह वर्षों तक केरल के शासन का भार संभालने मात्र का मौका मिल सकता था और

ऐसे राजाओं को चुनकर लाने और नियुक्त करने का अधिकार भी पूर्ववत् नम्पूतिरियों पर निहित रह सकता था। प्रस्तुत प्रस्ताव के आधार पर 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' ने 'चोल', 'पाण्ड्य,' 'चेर' आदि पड़ोसी तमिल-देशों के राजाओं को बारी-बारी से आमन्त्रित कर 'पेरुमाळ्' के नाम से उन्हें केरल-प्रदेश की राजगद्दी अथवा 'रक्षा-पुरुष के सिंहासन' पर बिठाने का नया क्रम चालू किया। अतः 'रक्षा-पुरुषों के शासन-काल' के बाद 'पेरुमाळों का शासन-काल' माना जाता है, जो यहाँ कई सौ सालों तक चलता रहा। 'रक्षापुरुष' केरल के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे तो 'पेरुमाळ्' बाहर के राजा' थे, इतना ही फरक था। 'चेर', 'चोल', और 'पाण्ड्य' देश के राजाओं में पेरुमाळ् के रूप में जो कोई केरल के लिए आमन्त्रित होते थे उनको 'चेर सम्राट' की पदवी भी प्राप्त होती थी।

पेरुमाळ-शासन-काल

कहा जाता है कि 'पेरुमाळ्-शासनकाल' ईसा के पूर्व 113 से लेकर ईसा के बाद 427 सालों तक केरल में जारी रहा। 'पेरुमाळों' की राजधानी केरल के प्राचीन बन्दरगाह और व्यापार-केन्द्र 'कोटुंगल्लूर' नगर में थी। तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य में इस नगर का 'वंचि' नाम से उल्लेख मिलता है। यवनों के प्राचीन ग्रंथों में भी इस व्यापार-केन्द्र के विषय में वर्णन पाये जाते हैं, क्योंकि वे केरल के साथ बहुत

पुराने ज़माने से व्यापार किया करते थे। उन्होंने 'कोटुंगल्लूर' को 'मुज़िरिस' (Muziris) नाम दिया था। पुराने तमिल साहित्य में इस प्राचीन राजधानी का असली नाम 'तिरुवंचिक्कुलम' अथवा 'वंचि' बताया जाता है। 'कोटुंगल्लूर' के पास 'तिरुवंचिक्कुलम' नामक स्थान इस समय भी वर्तमान है जहाँ बहुत ही प्राचीन काल का बनाया हुआ एक पुराना 'शिव-मंदिर' भी मौजूद है। कहा जाता है कि वह मंदिर 'पेरुमाळों' के ज़माने में बनाया गया था और वहीं जाकर 'पेरुमाळ्' राजा प्रतिदिन शिव-पूजा और प्रार्थना किया करते थे। उस मंदिर के विषय में यह बात भी प्रचलित है कि जब केरल में जैन-धर्म और बुद्ध-धर्म का प्रचार बढ़ने लगा तब उनसे हिन्दू-धर्म की रक्षा करने के लिए 'कुलशेखर' नामक एक पेरुमाळ् राजा ने उस मंदिर का निर्माण करवाया था। इस मंदिर के आराध्य देव भगवान् शिव हैं जो तमिल देश से आमन्त्रित पेरुमाळ-राजाओं के कुलदेव माने जाते थे। इस प्राचीन शिव-मंदिर में पेरुमाळ्-परंपरा के अंतिम 'चेरमान पेरुमाळ्' राजा भास्कर रविवर्मा और उनके गुरु श्री सुन्दरेश्वर की मूर्तियाँ आज भी मौजूद हैं।

प्रायः सभी पेरुमाळ्-राजा बड़े सुयोग्य, साहसी और लोकप्रिय शासक थे। वे नम्पूतिरी-ब्राह्मणों की मन्त्रणा से सुव्यवस्थित प्रशासन चालू करने में बहुत ही सफल एवं समर्थ साबित हुए। इसलिए उनका शासनकाल केरल के प्राचीन

युग का 'स्वर्ण-युग' ही माना जाता था। वे कला और साहित्य के पक्के प्रेमी और पोषक थे। उनके युग में केरल की संस्कृति का परिचय देनेवाले 'पतिट्टप्पत्तु' 'चिलप्पतिकारम्' आदि प्राचीन तमिल-ग्रन्थ केरल में रचे गये जो इस समय तमिल के साहित्य में विशेष महत्वपूर्ण माने जाते हैं। उनके ज़माने में केरल में खेती और उद्योग-धंधों की बड़ी उन्नति हुई। समुद्री व्यापार को बहुत अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। अतः केरल के व्यापारी जावा, मलाया, चीन, जापान, सुमात्रा आदि सुदूर के पूर्वी प्रदेशों के अलावा कई पश्चिमी राज्यों में भी अपनी नावों के ज़रिए माल-असबाब पहुँचा देते थे और उन देशों के व्यापारियों के साथ खूब तिजारत करते थे। इस प्रकार व्यापार के क्षेत्र में केरल का उन दिनों महत्वपूर्ण स्थान रहता था। केरल में भी अपने विश्व-व्यापक व्यापार के कारण धन-दौलत खूब बढ़ी, जिससे 'पेरुमाळ्-युग' की प्रजा सुखी और संपन्न हो गयी। 'पेरुमाळ्-काल' में ही पश्चिमी देशों से यहूदी, ईसाई आदि अन्य धर्मावलम्बी लोग केरल पहुँचे थे और उन विदेशी और विधर्मी लोगों ने भी इस प्रदेश में राजा तथा प्रजा की तरफ़ से काफ़ी अच्छा और असाधारण स्वागत-सत्कार संप्राप्त किया था। पेरुमाळ्-शासकों ने ईसाई, यहूदी मुसलिम, बौद्ध, जैन, पारसी, आदि अन्य धर्मावलम्बी एवं विदेशी लोगों के साथ सर्वदा अपूर्व उदारता और अनुपम मैत्री का व्यवहार किया था, क्योंकि न केवल उन्होंने उन को यहाँ आश्रय मात्र

दिया था, मगर उनको देव-मंदिर, गिरजाघर आदि बनवाने की सुविधा भी प्रदान की थी।

कहा जाता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मंदिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था और उन्हें प्राणों की रक्षा के लिए प्रवासी होकर अन्यत्र भाग जाना पड़ा था उसी वर्ष उन्होंने केरल के कोचिन नगर में आकर वहाँ के हिन्दू राजाओं की शरण ली थी। इसके प्रमाण के रूप में इस समय भी कोचिन और कोटुंगल्लूर में यहूदियों की बस्तियाँ विद्‌यमान हैं और उनके देवालय भी मिलते हैं। केरल के कई प्राचीन गिरजाघर, मसजिद आदि भी इस देश के पूर्वजों की धार्मिक सहिष्णुता और उदारता के उत्कृष्ट प्रमाण हैं। इस प्रकार की धार्मिक श्रद्‌धा और सहिष्णुता-पूर्ण उदारता हमेशा केरल के लोगों की संस्कृति में प्राचीन काल से लेकर अब तक पायी जाती है।

यह बताया जा चुका है कि पेरुमाळों के अंतिम शासक का नाम 'भास्कर-रविवर्मा' था। वे चेर देश से आमन्त्रित हुए थे जिससे उनको 'चेरमान पेरुमाळ्' भी कहा करते थे। वे इतने नीतिज्ञ और जनप्रिय प्रशासक सिद्‌ध हुए थे कि बारह साल की पूर्वनिश्चित साधारण अवधि के पूरी हो जाने के बाद भी उन दिनों के केरलवासी लोगों ने उनको 'पेरुमाळ्' का पद छोड़ अपने देश की तरफ़ वापस जाने नहीं दिया, बल्कि उनसे

पुनः प्रार्थना की कि वे अपने अंतिम दिनों तक केरल में ही अधिवास करें और पूर्ववत् यहाँ के प्रशासन का कार्य स्वयं सँभालते रहें। अपनी प्रिय प्रजा के उस अनुरोध और प्रार्थना को मानकर 'भास्कर-रविवर्मा' ने छत्तीस साल तक केरल का राज-काज सँभाला। इस बीच में केरल के प्रमुख नम्पूतिरी नेताओं ने उन्हींको केरल का स्थायी 'राजा' बनाकर विधिपूर्वक अभिषिक्त भी किया था। नतीजा यह हुआ कि भास्कर रविवर्मा केरल के पेरुमाळ् मात्र नहीं रहे बल्कि सर्वप्रथम सम्राट या राजा भी हो गये। अतः उन्होंने अपनी मृत्यु के बहुत दिनों के पहले ही केरल के तत्कालीन प्रादेशिक सामन्तों और शासकों को उन-उन विभागों का प्रशासन-भार स्वतन्त्र रूप से सँभालने की व्यावहारिक शिक्षा भी प्रदान की जहाँ के वे अधिकारी और शासक माने जाते थे। इस प्रकार 'पेरुमाळ्-काल' के बाद जो 'सामन्तकाल' आया उसको केरल में लाने का उत्तरदायित्व भी अंतिम पेरुमाळ् 'भास्कर राविवर्मा' का माना जा सकता है। अन्तिम पेरुमाळ् के अन्त के सम्बन्ध में भी कई जन-श्रुतियाँ लोगों में प्रचलित हैं। कुछ लोग उनके मुसलमान हो कर 'मक्का' चले जाने की बात को भी सच मानते हैं तो और कई लोग उसको झूठ साबित करते हैं। परन्तु इन में कोई बात निर्विवाद रूप से अभी तक प्रमाणित नहीं हो चुकी है। अतः उन कथाओं की तरफ़ ध्यान न देना ही उचित प्रतीत होता है।

सामन्त-काल

पेरुमाळ् भास्कर रविवर्मा के बाद केरल में सर्वत्र स्थानीय सामन्त राजाओं की प्रधानता रही। यद्यपि प्रारंभ-काल में सामन्तों की संख्या पच्चास या पैंसठ से अधिक रही थी तो भी उनमें सोलह-सत्रह ही प्रमुख माने जाते थे। ऐसे प्रमुख सामन्त राजाओं में नीलेश्वरम्, चिरक्कल्, कटत्तनाडु, एरनाडु, वल्लुवनाडु, ओणाडु, पषश्शी, सामोतिरी, पेरुम्पटप्पु, वेणाडु, तेक्कुंकूर, वटक्कुंकूर, चम्पकश्शेरी, पन्तलम्, पूंजार आदि के नाम ऐतिहासिक स्थितिगतियों को रूप देने की दृष्टि से देखा जाय तो विशेष रूप से उल्लेखनीय माने जा सकते हैं। इन सामन्त राजाओं के शासन-काल का इतिहास इतना बड़ा और बिखरा हुआ है कि उसका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना भी कठिन प्रतीत होता है। ये सामन्त राजा लोग अपने-अपने प्रदेश के सफल एवं जन-प्रिय शासक और साहसी योद्धा तथा वीर पुरुष माने जाते थे। उनकी वीरता, जन-प्रियता, शासन-पटुता और कुलीनता के विषय में कई प्रकार की अत्युक्ति-पूर्ण एवं मनोरंजक बातें जन-श्रुतियों के रूप में प्रचलित हैं। लेकिन सचमुच तो सामन्त राजाओं के शासन-काल में प्रबल सामन्तों के बीच में पारस्परिक संघर्ष और जातिमूलक एवं पारिवारिक कलह बहुत ज्यादा हुआ करते थे। प्रत्येक सामन्त राजा अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानता था और अपने पड़ौसी राजा से लड़कर अपने प्रदेश की

सीमा बढ़ाने, अपने वंश और कुल की श्रेष्ठता और उच्चता साबित करने तथा प्रभुता और प्रतिष्ठा पाने का प्रयत्न करता था। अतः उनके प्रदेश की सीमा के भीतर उन्हीं के आश्रय में रहनेवाली प्रजा भी "यथा राजा तथा प्रजा" की उक्ति को सर्वथा सत्य साबित करने में तन-मन से तत्पर रहती थी। उन दिनों देश में हर कहीं वीरों का सम्मान किया जाता था। वीररसपूर्ण काव्यों का सृजन और प्रचार सामन्त-काल की विशेषता रही थी। उस युग में केरल की स्त्रियाँ भी लड़ाई के क्षेत्र में पुरुषों के बराबर बहादुरी और साहस के साथ युद्ध-कला प्रकट करती थीं और वीर-गति पाना अपने लिए अत्यन्त गौरव की बात मानती थीं। सामन्त-राजाओं की तरह उनकी रानियाँ भी सेना-संचालन करना और शत्रु से डटकर युद्ध करना अपना कर्तव्य समझती थीं। सामन्त-काल में आपस की लड़ाइयों की तरह समय-समय पर पाश्चात्य देशों से आये पुर्तुगीज, डच्, फ्रान्सीसी, अंग्रेज आदि विदेशी आक्रमण-कारियों तथा अधिकार-लोलुप व्यापारियों से भी युद्ध हुआ करते थे जिनमें कभी किसी सामन्त राजा की तात्कालिक जीत होती, तो कभी उन आगन्तुक व्यापारियों तथा आक्रमण-कारियों की। अतः एक प्रकार से केरल में सामन्त राजाओं का वह युग प्रारंभ से अन्त तक बराबर पारस्परिक झगड़ों और संघर्षों का ही युग माना जा सकता है। इस युग में केरल में सैनिक शिक्षा, शस्त्रों और अस्त्रों के अभ्यास तथा सेना-

संचालन का कार्य जितना हुआ था उतना और किसी युग में नहीं हुआ था। अतः केरल में सामन्त राजाओं का जो शासन-काल रहा था वह वास्तव में 'युद्ध-कला और वीर-पूजा' का ही निराला युग था।

केरल के सामन्त राजाओं के बीच में कोषिक्कोडु के सामोतिरी, कोचिन के राजा, तथा वेणाडु अथवा तिरुवितांकूर के राजा—ये तीनों सब से प्रबल और प्रतापी माने जाते थे क्योंकि इन तीनों की राज-सत्ता शताब्दियों तक कायम रही थी। इन तीनों राजाओं के प्रताप और प्रशासन के विषय में इतिहास में बहुत सी प्रामाणिक बातें उपलब्ध होती हैं। वेणाडु वंश के सामन्त राजाओं में 'वीर मार्तण्ड वर्मा' का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध माना जाता है, क्योंकि उन्हीं वीर पुरुष की असाधारण युद्ध-कुशलता और अनुपम बहादुरी के कारण विशाल "तिरुवितांकूर' राज्य की स्थापना हुई थी, जो पश्चिमी आक्रमण-कारियों के युद्धों की आंधी में ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्र भारत में भी भाषावार प्रान्तों के बनने तक किसी न किसी रूप में कायम रही थी। उसके बाद कोचिन् के सामन्त-शाही राज्य का नाम लिया जा सकता है, जिसकी स्थापना करने में 'शक्तन् तंपुरान' की उपाधि से विख्यात सामन्त राजा का विशेष हाथ रहा था। 'तिरुवितांकूर' और 'कोचिन्' इन दो राज्यों के राजाओं की प्रशासन-पटुता, प्रजा-प्रेम, शिक्षा-प्रचार आदि के विषय में बहुत-सी प्रामाणिक बातें केरल के

इतिहास में उल्लिखित हैं। कोषिक्कोडु के 'सामोतिरी' वंश के सामन्त राजाओं की वीरता, युद्ध-कुशलता, शासन-पटुता, धार्मिक सहिष्णुता, साहित्य-प्रेम आदि के सम्बन्ध में भी कई स्मरणीय बातें इतिहास में उपलब्ध हैं। उसी प्रकार अंग्रेजों के सामने भी सर झुकाये बिना लड़ते-लड़ते वीर-गति प्राप्त वीरवर सामन्त राजा 'पष़शी' केरलवर्मा का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेकिन 'सामोतिरी' और 'पष़शी' वंश के सामन्त राजाओं की प्रभुता और प्रतिष्ठा अंग्रेज़-राज के होने तक ही रही थी। अंग्रेज सरकार ने केरल के अन्य कई सामन्त राजाओं को जीतकर उनके वंश के लोगों को जिस प्रकार "मालिकान" के रूप में वार्षिक पेन्शन मात्र देकर सन्तुष्ट रखा था, उसी प्रकार 'सामोतिरी' और 'पष़शी' के राजवंशों के लोगों को भी प्रतिवर्ष पेन्शन के रूप में निश्चित रक़म मात्र देने की व्यवस्था की गयी थी। केरल के प्रायः सभी सामन्त राजाओं के वंशों में पैदा हुए उत्तराधिकारियों को यहाँ के लोग अब भी 'राजा' की संज्ञा से पुकारते हैं और उनको आदर की दृष्टि से देखते हैं। अब सामन्त-शाही और राज-वैभव के अभाव में भी, उन वंशजों का केरलीय समाज में थोड़ा-बहुत सम्मान रहता ही है।

पश्चिमी लोगों की प्रभुता और अंग्रेजों की सत्ता

सामन्त-काल के समाप्त होते होते केरल के भिन्न-भिन्न भागों में पाश्चात्य व्यापारियों और आक्रमणकारियों के रूप में

आये पुर्तुगीज़, डच् और अंग्रेज लोगों ने समय-समय पर राज चलाया। आखिर, उनके बीच हुए संघर्षों के पश्चात् सारा भारत-खंड अंग्रेज़-शासकों के अधीन हो गया तो केरल में भी उनकी सत्ता जम गयी और यहाँ के 'तिरुवितांकूर' और 'कोचिन्' के राज्यों के सामन्त-राजाओं ने भी उनकी प्रभुता स्वीकार कर ली। केरल के शेष भागों के अधिपति और शासक स्वयं अंग्रेज बन गये। उन भागों का नाम मलबार माना गया और उस प्रदेश को भी अंग्रेज-शासकों ने 'मद्रास प्रेसिडेन्सी' के अन्तर्गत रखने का निश्चय किया। इस प्रकार केरल के आधे से अधिक उत्तर दिशा का भू-विभाग सीधे अंग्रेजों के प्रशासन के अन्दर हो गया और दक्षिणी तरफ़ के हिस्से में 'कोचिन्' और 'तिरुवितांकूर' नामक देशी नरेशों की अलग-अलग रियासतें कायम रहीं जहाँ पर अंग्रेज-शासकों की प्रभुता माननेवाले सामन्त राजा राज-काज सँभालते रहे।

स्वतंत्रता के पश्चात्

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद देश की परिस्थिति बदल गयी और भाषावार प्रान्तों का नवीन रूप से संगठन हो गया। उसका परिणाम यह हुआ कि केरल के बचे हुए दोनों सामन्त-परंपरा के राजाओं के हाथ से भी राज-सत्ता और प्रशासन का अधिकार चला गया और केरल में राजतन्त्र और विदेशी साम्राज्य-शाही के स्थान पर प्रजातन्त्र का समागम हो गया।

स्वतन्त्र भारत में भाषावार राज्यों के संगठित होने के कारण मलयालम भाषा-भाषी जनता के लिए जो नया 'केरल राज्य' स्थापित हुआ उसमें मलबार, कोचिन् और तिरुवितांकूर ये तीनों हिस्से मिलाये गये। मैसूर राज्य के कासरकोट, नीलेश्वरम आदि मलयालम भाषा-भाषी उत्तरवाले हिस्सों को भी केरल राज्य में माना गया। लेकिन पुरानी 'तिरुवितांकूर-रियासत' के चेंकोट्टा, कन्याकुमारी और उसके इर्दगिर्द के प्रदेश को तमिलनाडु में मिलाया गया। इस प्रकार जो नवीन केरल राज्य बनाया गया उसका भौगोलिक परिचय अन्यत्न दिया जा चुका है।

वर्तमान केरल राज्य का सदर मुकाम 'तिरुवनन्तपुरम्' शहर है जो पुराने तिरुवितांकूर राज्य का राज-नगर था। उसी नगर में केरल के प्रशासक मन्त्री लोगों के अलावा राज्पाल आदि भी इस समय रहते हैं। उन सबके मुख्य-मुख्य कार्यालय वहीं स्थित हैं। 'तिरुवनन्तपुरम' एक अत्यन्त सुन्दर, स्वच्छ और सुविधापूर्ण नगर है जो समुद्र के किनारे बसा हुआ है और जिसके बीच में स्वच्छ-सलिला सरिता भी निरन्तर बहती रहती है।

इतिहास को विदेशी संस्मरणों की देन

केरल की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के विषय में प्रामाणिक रूप से कई विशेष बातों का परिचय यहाँ समय-समय

पर आये कतिपय विदेशी यात्रियों के द्वारा लिखे पत्रों और संस्मरणों से भी प्राप्त होता है। उन मुसाफ़िरों में इब्नबत्तूता, फाहियान, अलबरूणी, निकोलेकोण्टि, डाक्टर फ़ेयर, जेकब कान्टर विषर, डी बारोस, बारबोसा, जॉणस्टण आदि कई सज्जनों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें चीनी, पुर्तुगीस के ईसाई, डच् लोग और अंग्रेज़ भी मिलते हैं। उनके लिखे पत्रों तथा यात्रा-विवरणों से अभिज्ञात होनेवाली मुख्य बातों का संक्षिप्त परिचय मात्र यहाँ प्रस्तुत करना समीचीन प्रतीत होता है। अतः निम्नलिखित पंक्तियों में उसीका भरसक प्रयत्न किया जाता है।

उपर्युक्त कई यात्रियों के विवरणों से विदित होता है कि "केरल प्रदेश में पहले एक प्रकार की विशिष्ट सभ्यता प्रचलित थी। यहाँ पर जो राजा लोग शासन कर रहे थे वे रोज़ प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त में जाग उठते थे। बिस्तर से उठते ही वे अपने आराध्य देव की मूर्ति के सामने जाकर सर झुकाते हुए हाथ जोड़कर खड़े-खड़े देर तक प्रार्थना करते थे। वे हाथी और बैल को अत्यन्त पूज्य और पवित्र मानते थे। उनकी कमर के ऊपर के शरीर के सभी अंग खुले और नंगे रहा करते थे। लेकिन वे कमर तक रेशमी वस्त्र पहन लेते थे जिसपर रेशमी कमरबन्द भी लिपटा हुआ रहता था। वस्त्र और कमरबन्द के रंग अलग-अलग रहते थे। सिर पर सफ़ेद या पीले रंग की पगड़ी रहती थी, जिसपर बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। राजा के समान ही उनके सचिव आदि प्रमुख

अधिकारी भी वेष-भूषा पहनते थे। उनमें किसी प्रकार का फरक नहीं नज़र आता था। उस समय केरल में पाँच प्रकार के लोग रहते थे। वे नम्पूतिरी, नायर, ईष्वर, मुक्कुवर, मुसलमान और ईसाई-जाति के व्यापारी लोग थे। इनके अलावा जटाधारी योगी लोग भी मिलते थे। वे चोटी और दाढ़ी बढ़ाते थे और नंगे फिरते थे। कमर पर बेंत की लता लिपटी रहती थी जिसपर सफ़ेद वस्त्र का टुकड़ा गुह्य प्रदेश मात्र को छिपा रखता था। रास्ते से चलते समय वे अपने हाथ का शंख बजाया करते थे। उनकी स्त्रियाँ भी सदैव उनके साथ चलती फिरती थीं। वे भी कमर-भर के लिए एक कपड़े का आच्छादन मात्र रखती थीं। जिन घरों में वे लोग जाया करते थे उनके अधिवासी लोग उन्हें चावल, पैसे, तेल आदि दान के रूप में देते थे। केरल का शासन करनेवाले राजा प्रतापी और वीर थे। उनके अलावा कई प्रमुख नेता लोग भी प्रशासन-कार्य में सहयोग और सहायता करते थे। वे नायर लोग थे जो बड़े साहसी और लड़ाकू प्रकृति के थे। उनके हाथ में हमेशा तलवार या भाले की भाँति कोई हथियार रहता था। समुद्र में जाकर मछली पकड़नेवाले कुछ लोग भी केरल में रहते थे। नम्पूतिरी कहे जानेवाले लोग हमेशा राजा के साथ ही रहा करते थे। वे भी राजा के बराबर पूज्य माने जाते थे। स्वयं राजा लोग भी उनको प्रणाम करते थे। केरल की सुन्दर स्त्रियाँ भी सिर से कमर तक के

शरीर को खुला और नंगा रखने में संकोच नहीं करती थीं। प्राय: उनकी उभरी हुई छाती खुली रहती थीं, मगर कभी बड़े घरों की स्त्रियाँ अँगोछे से आवृत कर लेती थीं। वे पान-सुपारी खाती थीं और पुरुषों के बराबर घूमती फिरती थीं। केरल की स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर शत्रुओं से लड़ने में साहस और सामर्थ्य प्रकट करती थीं। यहाँ के वर्गों के सभी पुरुष स्त्रियों का बहुत अधिक आदर-सम्मान करते थे। यहाँ स्त्री-पुरुष बराबर काम करते थे। खेती, व्यापार, मछली पकड़ना, लकड़ी काटना, युद्ध के लिए आवश्यक शस्त्राभ्यास करना आदि सभी काम दोनों करते थे। उनके घर नारियल के पत्ते, लकड़ी, पत्थर, ईंट आदि साधनों से बने हुए नोकदार कुटीर से लगते थे। राजाओं तथा नम्पूतिरियों के मकान आकार में अपेक्षाकृत बड़े होते थे, जिनको 'कोविलकम्' और 'इल्लम्' कहा करते थे।"

इस प्रकार की कई बातों का वर्णन केरल के लोगों तथा उनके कार्यों के संबंध में उन विदेशी यात्रियों ने विवरणात्मक ढंग से अपनी-अपनी भाषाओं में लिख रखा है, जिससे इस देश की प्राचीन सभ्यता की विशेषताओं के बारे में बहुत कुछ समझ लिया जा सकता है। आगे के परिच्छेद में केरल के मुख्य-मुख्य अधिवासी लोगों के विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा जिससे इस देश की सभ्यता और संस्कृति की विकासोन्मुख रूपरेखा का स्पष्ट-चित्रण उपलब्ध हो सके।

केरल के लोगों की जातियाँ और उपजातियाँ

आदिम निवासी

इतिहास के विशेषज्ञों के द्वारा अभी तक यह निश्चित रूप से घोषित नहीं किया गया है कि केरल राज्य के सब से आदिम अधिवासी लोग कौन थे, उनकी जाति क्या थी और उनके बीच में प्रचलित सभ्यता कैसी थी। जनश्रुतियों तथा दन्तकथाओं के आधार पर रची दो-तीन संस्कृत पुस्तकों से तथा कई आधुनिक विद्वानों के ग्रन्थों से इतना ही विदित होता है कि समुद्र के अन्दर से केरल-देश का आविष्कार महर्षि परशुराम ने किया था और उन्हीं के अथक प्रयत्नों से यह नया देश मनुष्यों के अधिवास के उपयुक्त बन गया था। इससे यही अनुमान करना पड़ता है कि परशुराम के आगमन के पहले इस प्रदेश में मनुष्य नहीं रहते थे। यह अनुमान सत्य के अनुकूल न होने के कारण तर्कसंगत और स्वीकार्य नहीं लगता। इसलिए यही संभव माना जा सकता है कि परशुराम के समय के केरल-प्रदेश में जो लोग रहते थे वे असभ्य और असंगठित थे जिससे उनको उस पराक्रमी पुरुष के सामने जाने या लड़ने का साहस नहीं रहा होगा और वे कहीं जंगलों में छिपे ही रहते थे।

उन्हीं आदिम निवासियों की परम्परा में 'मलयर' (पहाड़ी) 'पाणर' (बाण-वाले) 'नायाटि' (शिकारी) और 'काटर' (जंगली) आदि कुछ असभ्य और अशिक्षित जातियों के लोग इस समय भी केरल के जंगलों में पाये जाते हैं। वे प्रायः जंगलों में ही रहा करते हैं, और शिकार और जड़ी-बूटियों के व्यापार द्वारा ज़िन्दगी के दिन काटते हैं। शायद उन्हीं की परम्परा में और भी सभ्य और शिक्षित 'चेरुमर' और 'पुलयर' जाति के लोग भी मिलते हैं जो अपनी आजीविका के लिए प्रायः खेती-बारी के काम करते हैं। इन्हीं 'मलयर', 'पाणर', 'नायाटि', 'काटर', 'चेरुमर', 'पुलयर' जैसे लोगों को ही केरल के 'आदिम निवासी' कहते हैं। वे सब प्रायः श्यामवर्ण के सुगठित शरीरवाले लोग हैं जो बिलकुल अशिक्षित और ग़रीब रहा करते हैं। अपनी परम्परागत रूढ़ियों और रीति-रिवाजों के कारण ये लोग सभ्य समाज से सदा दूर रहते हैं। मांसाहार और मद्यपान को ये लोग बहुत पसन्द करते हैं। लेकिन आधुनिक स्वतन्त्र भारत में होनेवाले परिगणित और पतित लोगों के उद्धार के देश-व्यापी प्रयत्नों के फलस्वरूप इन असभ्य लोगों की दशा भी धीरे-धीरे सुधरती जा रही है।

अभ्यागत अधिवासी

प्राचीनकाल में उत्तर भारत के विविध प्रान्तों तथा यूरोप, अरब आदि विदेशों से जो लोग समय-समय पर केरल में आकर

आबाद हुए थे उन सबको इतिहास के विद्वान् 'अभ्यागत लोग' के नाम से पुकारते हैं। ऐसे 'अभ्यागत लोगों' में 'नम्पूतिरी' और 'नायर' जाति के आर्य लोग सबसे प्राचीन और प्रमुख माने जाते हैं। 'नम्पूतिरी' शुद्ध आर्य-जाति के ब्राह्मण समझे जाते हैं तो 'नायर' आर्य और द्रविड़ के सम्मिश्रण से उत्पन्न शूद्र। पहले ही बताया जा चुका है कि केरल के प्राचीन इतिहास से पता लगता है कि यहाँ पहले कई शताब्दियों तक 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' की राज-सत्ता कायम रही थी और 'नायर' जाति के लोगों की भी विशेष प्रतिष्ठा और प्रधानता रही थी। अतः उन दोनों प्रतापी और शक्ति-शाली लोगों के अधीन 'पुलयर', 'चेरुमर' आदि आदिम निवासी-जनता किसान और मजदूर बनकर गुलामों की तरह दिन काटती थी।

नम्पूतिरि ब्राह्मण

केरल के 'अभ्यागत' लोगों में नम्पूतिरियों के विषय में यह कहा जाता है कि पौराणिक काल के त्रेतायुग में भगवान् परशुराम ने क्षत्रिय-हत्या के पापों से स्वयं मुक्ति पाने के इरादे से पश्चिम समुद्र के भीतर से अपने 'परशु' नामक हथियार को ज़ोर से फेंककर, जहाँ वह जाकर गिरा वहाँ तक के पानी को हटा कर 'केरल प्रदेश' को बाहर निकाल लिया और उस नयी भूमि को अन्यान्य प्रदेशों से ब्राह्मणों को बुला लाकर दान में

दे दिया। कहा जाता है कि जिन ब्राह्मणों को केरल का वह नवीनतम प्रदेश प्राप्त हुआ था उनको 'नम्पूतिरी-ब्राह्मण' का नाम भी परशुराम ने ही दिया था। जब परशुराम ने देखा कि कुछ ब्राह्मण केरल में कुछ दिन रहने के बाद अपने पूर्व प्रदेश को ही लौटने लगे तब उन्होंने उन सब लोगों को यहीं स्थायी रूप से अधिवासित कराने के उद्देश्य से उनकी चोटी बढ़ाने, बनाने और बांधने की एक नयी रीति भी प्रचलित कर डाली थी। इसीके अनुसार नम्पूतिरी ब्राह्मणों की चोटी पीछे की तरफ़ न होकर आगे की ओर बढ़ायी और बाँधी जाती है, जो अब भी कट्टर 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' की चोटी अथवा शिखा देखने से ज्ञात हो सकता है। केरल के मलयालम बोलनेवाले सभी पुरुष पहले नम्पूतिरियों का अनुकरण करते हुए अपनी शिखा बढ़ाने की वही रीति रखा करते थे। इसलिए पुराने जमाने में केरल के पुरुषों की शिखा मात्र देखने से इसका पता लगता था कि वे केरलीय थे। नम्पूतिरी-ब्राह्मणों की विचित्र चोटी के कारण वे पहले दूसरे देशों के ब्राह्मणों से भिन्न लगते थे। इसलिए यदि वे कभी केरल छोड़कर अपने पुराने देश की तरफ़ या अन्यत्र कहीं चले जाते तो वहाँ से एक दम 'जाति-भ्रष्ट' लोगों की तरह उनको लाचार होकर केरल की तरफ़ लौट आना भी पड़ता था। इस प्रकार केरल के नवागन्तुक आर्य लोग यहीं पर रहने के लिए विवश किये गये और यहाँ की भाषा सीखने के लिए स्वयं प्रेरित भी हो गये। कहा जाता है कि भगवान परशुराम

ने केरल देश को ब्राह्मणों तथा अन्य आर्य-जाति के लोगों का अधिवास-स्थान बनाने के लिए बहुत अधिक उपाय किये थे। उन्होंने केरल की जनता के लिए कई प्रकार के नवीन आचारों व अनुष्ठानों का नया धर्म भी चलाया था जिस के अनुसार अब उन्ही को यहाँ के धर्म-स्थापक का महान पद देकर सम्मानित भी किया जाता है। इस प्रकार केरल 'परशुराम-क्षेत्र' बना और यहाँ के लोग अपने ढंग के आचार-विचारों का पालन करने लगे। इन प्राचीन आचार-विचारों तथा रस्म-रिवाजों के विषय में भी थोड़ा-बहुत बताया जायगा।

नम्पूतिरी-ब्राह्मणों में कुछ खास खानदानों के लोगों को राज्य-रक्षा के लिए आवश्यक क्षत्रियोचित सैनिक-शिक्षा और शस्त्र-विद्या का अभ्यास पाने की विशेष अनुमति और सुविधा पहले दी जाती थी। वे वैदिक-शिक्षा और वेद-पाठ के अधिकारी नहीं माने जाते थे। अतः केरल में आज भी 'यात्रा-नम्पूतिरी' या 'संघक्कळि-नम्पूतिरी' नामक कुछ विशेष प्रकार के 'नम्पूतिरी-ब्राह्मण' हैं, जिनके बीच में 'आयुध-मेटुक्कल' (शस्त्र-ग्रहण) नाम का एक खास रिवाज प्रचलित है। यह केरल के प्राचीन द्राविड लोगों के विरुद्ध उनकी पुरानी युद्ध-यात्रा की स्मारक प्रथा मानी जाती है। पुराने जमाने में ब्राह्मण होने पर भी इन 'यात्रा-नम्पूतिरियों' को अन्य नम्पूतिरियों की तरह कुलीन और श्रेष्ठ नहीं मानते थे क्योंकि उनको वैदिक-शिक्षा पाना अनिवार्य नहीं था। वे केवल

'संध्यानुष्ठान' करने मात्र की साधारण-सी वैदिक शिक्षा पाकर अपना शेष समय शस्त्राभ्यास, सैन्य-संचालन और राजनीति के कार्यों में लगाते थे।

जाति-भेद की प्रथा

केरल के विभिन्न प्रकार के अधिवासियों के विषय में प्राचीन काल की जनश्रुतियों के आधार पर लिखे एक संस्कृत ग्रन्थ 'जाति-निर्णयम्' में इस प्रकार की पंक्तियाँ मिलती हैं कि—

अष्टौ हि विप्राद्वौ न्यूनौ
द्वादशैवान्तराळिका:
अष्टादशस्य शूद्राष्षट्
शिल्पिन: पतिता दश
नीचा: प्रथक् चचत्वार-
श्चतुष्षष्टिर्हिजातय:"

इस श्लोक के अनुसार केरल के लोगों की जातियाँ और उपजातियाँ कुल मिलाकर चौंसठ थीं, जिनमें आठ प्रकार के ब्राह्मणों के अलावा दो न्यून जाति के, बारह अन्तराळ जाति के, अठारह शूद्र जाति के, छ: शिल्प-जाति के, दस पतित जाति के और आठ दो प्रकार की नीच जाति के लोग बताये जाते थे। इस प्राचीन प्रमाण के आधार पर क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोगों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। अत: यह मानना पड़ता है

कि प्राचीन आर्यों के जाति-क्रम के अनुसार केरल के लोगों का चार वर्णों में विभाजन उस समय नहीं किया गया था और केरल की वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-पाँति बिलकुल भिन्न प्रकार की रही थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में आठ प्रकार के ब्राह्मणों तथा दूसरी जातियों एवं उपजातियों के विषय में बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है। लेकिन अब यहाँ नीचे उसमें से आठ प्रकार के ब्राह्मण नम्पूतिरियों की बातों का संक्षिप्त परिचय मात्र दिया जाता है।

(1) 'तम्प्राक्कळ्'—ये लोग अपने समाज में सर्वश्रेष्ठ नम्पूतिरी माने जाते थे, जो 'भद्रासनम्', 'ब्रह्मसाम्राज्यम्' 'ब्रह्मवर्चस्स्' 'वेदाध्ययन-पारंगत' आदि चार विशिष्ट पदों के अधिकारी बनने की आध्यात्मिक साधना करते थे और अत्यधिक आस्तिक और धर्म-परायण रहते थे।

(2) 'अष्टगृहत्तिलाढ्यर'—महत्व की दृष्टि से इन लोगों का स्थान दूसरा माना जाता था। ये तपस्या, वेदाध्ययन और वेदों के अर्थों की चर्चा और वाद-विवाद, प्रभुता, दान-शीलता आदि के अधिकारी माने जाते थे। वे लौकिक दृष्टि से भी प्रतापी और संपन्न थे।

(3) 'विशिष्ट ब्राह्मणर'—ये लोग पौरोहित्य, यज्ञ और सन्यास के सच्चे और स्वीकृत अधिकारी थे। इनकी मुख्य वृत्ति यज्ञों के लिए मान्य 'भट्टवृत्ति' थी। 'आधान'

नामक कर्म यज्ञों में ये लोग ही करते थे, अतः इनको 'अटितिरी' (आहिताग्नि) की पदवी मिलती थी। 'सोमयाग' करने-वालों को 'सोमयाजी' अथवा 'चोमातिरी' तथा अन्यान्य यज्ञों के समय 'अग्निचयन' करनेवालों को 'अग्निचित्त' अथवा 'अक्कित्तिरी' के नाम से अभिसंबोधित किया करते थे। सिर्फ 'भट्टवृत्ति' मात्र करनेवाले नम्पूतिरियों को 'भट्टतिरी' कहते थे।

(4) 'सामान्य ब्राह्मणर'—इन लोगों की वृत्ति आर्यों के अनुसार वेदाभ्यास, वेदाध्यापन, मान्त्रिक-क्रिया, मन्दिरों में तान्त्रिक-क्रिया, सन्यास-ग्रहण आदि में कोई एक रहती है। इनको 'नम्पूतिरी', 'नम्पूतिरिप्पाड्' इन दो नामों से पुकारा करते थे। ये लौकिक कार्यों में भी अत्यधिक दत्तचित्त रहा करते थे।

(5) 'जातिमात्रर'—ये लोग जाति के ब्राह्मण होने पर भी वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं माने जाते थे। ये लोग भी चार प्रकार के होते थे जो 'अष्टवैद्यर', 'यात्रांगर' अथवा 'यात्रा-नम्पूतिरी,' 'आचारत्यक्तर' और 'वृत्तिहीनर' कहे जाते थे। 'अष्टवैद्यर' चिकित्सावृत्ति, 'यात्रांगर' सैन्यवृत्ति, 'आचारत्यक्तर' ब्राह्मणेतरवृत्ति और 'वृत्तिहीनर' नीचवृत्ति या शूद्रवृत्ति करते थे। इसलिए 'जातिमात्रर नम्पूतिरियों' को अन्य नम्पूतिरियों के समान उन दिनों समाज में आदर और प्रतिष्ठा नहीं दी जाती थी। वे केवल 'परिकर्मी' माने जाते थे।

(6) 'सांकेतिकर'—महर्षि परशुराम से दान लेने के बाद किसी कारण से केरल छोड़ जाने पर अपने यहाँ अनादर और तिरस्कार पाने के कारण दुःखी और उपेक्षित होकर पुनः केरल ही वापस आये हुए कुछ नम्पूतिरी लोगों को 'सांकेतिकर' कहते थे। ऐसा कहा जाता है कि यहाँ लौट आने के बाद वे लोग यहाँ के मन्दिरों के पुजारी बने। अतः इनकी जाति सूचक संज्ञा 'नम्पूतिरी' न होकर 'एम्प्रान्तिरी' अथवा 'पोट्टि' रखी गयी थी। ये भी वेदाध्ययन, पूजा-पाठ, आराधना, यज्ञ के समय परिकर्म आदि कार्य करते थे। प्रायः केरल के मन्दिरों के पुजारी बनने का तथा यज्ञों में श्रेष्ठ पुरोहितों की सेवा करने का कार्य ही इनको उन दिनों ज़्यादा दिया जाता था। अतः इनको 'शान्तिक्कार' भी कहा करते थे।

(7) 'शापग्रस्तर'—भगवान् परशुराम की बात मानकर उनसे भूमि का दान न लेने की वजह से उनके शाप के पात्र बने हुए इतर देशों के सभी ब्राह्मण लोगों को 'शापग्रस्तर' कहते थे। अतः पहले उत्तर भारत और दक्षिण के तमिलनाडु, आंध्र, मैसूर आदि राज्यों में जो ब्राह्मण रहते थे, उन सबको केरल में 'शापग्रस्तर' ही मानते थे।

(8) 'पापिष्ठर'—ऐसे कुछ ब्राह्मण लोग थे जो नम्पूतिरी होते हुए भी शिव-मन्दिर का धन लेनेवाले, शूद्रों का पौरोहित्य करनेवाले, राजद्रोह करनेवाले आदि होते थे।

उन्हींको 'पापिष्ठर' माना जाता था। इस वर्ग में 'मूत्ततु', "इलयतु', 'नम्पिटी' 'नम्पियातिरी' आदि जाति-सूचक संज्ञा रखनेवाले लोग रहते थे। इन में 'मूत्ततु' और 'इलयतु, कहे जानेवाले लोग जाति की दृष्टि से 'न्यून जाति' के भी माने गये थे। 'पापिष्ठर' लोगों को अब पवित्र नम्पूतिरी नहीं बताया जाता है क्योंकि वे 'न्यून जाति' के हैं। केरल के नम्पूतिरी-ब्राह्मणों की जाति सूचक-संज्ञाएँ नम्पूतिरी, नम्पूतिरि-पाड्, भट्टतिरि, भट्टतिरिप्पाड् चोमातिरि, आक्कित्तिरी, अटितिरी, नम्पिटि, इलयतु, मूत्ततु आदि कई तरह की होती हैं, जो आज भी पूर्ववत् प्रचलित हैं। इन में प्रत्येक जाति के लोगों के बीच में ही विवाह सम्बन्ध और सह-भोजन हो सकता है, ऐसा नियम भी पहले से चालू था।

नायर जाति के लोग

कहा जाता है कि नम्पूतिरी लोग जब पहली बार केरल आकर रहने लगे तब अपनी परिचर्या और सेवा-शुश्रूषा करने के लिए कुछ शूद्र वर्ण के लोगों को भी अपने साथ यहाँ ले आये थे और उन्हीं को 'नायर' के नाम से यहाँ आने के बाद पुकारने लगे थे। 'नायर' लोग यहाँ आकर 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' की सेवा के अलावा केरल के प्रशासन-सम्बन्धी अन्यान्य प्रकार के अनेकों आवश्यक कार्य भी करते थे। अतः सचमुच वे इस देश के 'नायक' भी माने जाने लगे। कहते हैं कि 'नायर'

शब्द 'नायक' का तद्‌भव प्रादेशिक रूप है। इससे मिलते जुलते 'नायुडु' 'नाय्‌कर' आदि लोगों के जाति-नाम दक्षिण के अन्य राज्यों में भी मिलते हैं। प्राचीन काल में केरल के 'नायर लोग' बड़े साहसी और बहादुर योद्‌धा माने जाते थे। नायरों में बहुत-से कुशल सेना-नायक, सफल सचिव और बुद्‌धिमान राजनैतिक भी हुए थे। केरल में समय-समय पर जितने पारस्परिक युद्‌ध सामन्तों के बीच में हुए थे उन सब के वर्णन में यहाँ के नायर लोगों की बहादुरी और साहस के रोमांचकारी कार्यों और घटनाओं का विशेष उल्लेख मिलता है। 'जतिनिर्णयम्' नामक उपर्युक्त संस्कृत-ग्रन्थ में नायर लोगों को शूद्र वर्ण के अन्तर्गत ही माना गया है। यहाँ के शूद्रों की कुल अठारह जातियाँ उस ग्रन्थ में बतायी हुई हैं। केरल में वे सब इस समय भी मिलती हैं। अतः उनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(1) 'किरियत्तु नायर'—ये शूद्र लोग नायर-जाति के होते हुए भी अपने यहाँ के राजाओं के सचिव, सेनापति, उपदेशक, वित्त-मन्त्री आदि पदों पर रहा करते थे। उनको क्षत्रियों के समान सामान्य सभी धर्मों और कार्यों का पालन करने की पूर्ण अनुमति और सुविधा दी गयी थी। यहाँ के सामन्तों के अधीन अपने-अपने मुहल्लों का प्रशासन ये लोग स्वयं स्वतन्त्र होकर कर सकते थे जिस से लोग उनको 'नाडुवाषि् (देशपति) भी कहा करते थे। ये लोग नायर, 'कैमल', 'कर्ता', 'कुरुप',

'पणिक्कर', 'मेनोन' आदि विशिष्ट जाति-सूचक संज्ञाएँ अपने लिए रखा करते थे, जो आधुनिक काल में भी पूर्ववत् प्रचलित होती रहती हैं। पहले नायरों में ये ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे।

(2) 'इल्लत्तु नायर'—ये लोग 'नम्पूतिरी-ब्राह्मणों' के घर याने 'इल्लम्' में परिचर्या का काम करते थे। पुराने विधान के अनुसार ब्राह्मण-घरों के अलावा अन्य जाति के लोगों के घरों में जाकर परिचर्या और सेवा का कार्य ये लोग कभी नहीं कर सकते थे। ऐसा करना उन दिनों पाप और अपराध मानते थे। उसके लिए वे दण्डित भी होते थे। इन लोगों की जाति-सूचक संज्ञा 'नायर' ही रहती थी।

(3) 'स्वरूपत्तिल् नायर'—ये लोग सिर्फ सामन्तों तथा क्षत्रियों के घरों में परिचारक का काम करते थे। इन लोगों को भी 'नायर' ही कहा करते थे। ये भी अन्य घरों में परिचर्या कदापि नहीं कर सकते थे। अगर करते तो दण्ड के पात्र ज़रूर बनते।

(4) 'मेनोक्कि'—ये लोग केरल के मन्दिरों की हिसाब-किताबें रखा करते थे। इनकी जाति-सूचक संज्ञा 'मेनोक्कि' ही रही थी। इन का काम भी निश्चित ही था।

(5) 'पट्टोलमेनोन' ये नायर लोग सिर्फ़ सामन्तों तथा ज़मीन्दारों के यहाँ हिसाब बहियाँ लिखा करते थे। अतः इन

लोगों को 'पट्टोलमेनोन' की विशेष संज्ञा मिली थी। जाति में ये लोग 'मेनोक्कि' से निम्न श्रेणी के माने गये थे।

(6) 'माराR'—ये लोग मन्दिरों में बाजा, बिगुल, शंख आदि बजाने का कार्य करनेवाले थे। इस समय भी केरल में 'माराR' के नाम से जो पुकारे जाते हैं, वे इन्हीं की परंपरा के माने जाते हैं। उनका जाति-मूलक पेशा भी पूर्ववत् चलता है।

(7) 'पादमंगलं नायR'—ये लोग मन्दिरों में जुलूस के समय प्रदर्शित भगवान की मूर्ति के आरक्षक का काम करनेवाले थे। इनकी जाति-सूचक संज्ञा भी 'नायR' रही थी।

(8) 'पळ्ळिच्चान्'—ये लोग पहले केवल ब्राह्मणों तथा राजाओं की डोली उठाया करते थे। इनको भी 'नायR' की जाति-सूचक संज्ञा ही दी गयी थी।

(9) 'चेम्पुकोट्टि नायR'—ये लोग ताम्बे के बर्तन बनानेवाले थे। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के घरों तथा भगवान के मन्दिरों में जाकर तांबे के पात्रों की मरम्मत आदि भी ये लोग करते थे। इनको भी 'नायR' कहते थे।

(10) 'ओटत्तु नायR' वे लोग होते थे, जो नम्पूतिरी-घरों तथा देव-मन्दिरों में 'छप्पर लगाने और 'छत सजाने' का काम करते थे।

(11) 'एटच्चेरि-नायR' उन लोगों को कहते थे जो पहले ग्वाले थे और दूध, दही, घी आदि का व्यापार करते थे।

(12) 'वट्टक्काट्टु नायर' वे लोग होते थे जो मन्दिरों और नम्पूतिरी-घरों की आवश्यकता के लिए तिल, नारियल आदि से तेल निकालकर दिया करते थे।

(13) 'आन्तूर नायर' उन्हीं लोगों को कहते थे जो 'मिट्टी के बर्तन' बनाकर केवल मन्दिरों के उपयोगार्थ पहुँचा देते थे।

(14) 'अस्थिक्कुरुच्चि' अथवा 'चीतकन्' की जाति-सूचक संज्ञा से पुकारे जानेवाले नायर लोग वे थे, जो शूद्रों के मृत-शरीरों का अन्तिम संस्कार कराने में सभी प्रकार के नायरों का पौरोहित्य किया करते थे।

उपर्युक्त चौदह प्रकार की विभिन्न नायर-जातियों के लोगों को केरल में सब लोग जाति की दृष्टि से उच्च और वरिष्ठ नायर ही मानते थे। उनके बीच में आम तौर से यद्यपि 'विवाह-संबन्ध', 'पंक्ति-भोजन' आदि नहीं होते थे तो भी वे एक दूसरे को कदापि अस्पृश्य नहीं मानते थे। उन सब प्रकार के नायरों को पुराने ज़माने में शास्त्र-विद्या और सैनिक-शिक्षा पाने की अनुमति और सुविधा अवश्य दी जाती थी। वे सब युद्ध-कुशल और शिकार के काम में अवश्य ही समर्थ और सफल रहा करते थे। अतः उन सब नायरों की जाति-सूचक उपर्युक्त वृत्ति के अलावा मुख्य और सामान्य वृत्ति लड़ना, शिकार करना, पहरा देना, आरक्षक होकर भूले-भटके यात्रियों तथा स्त्रियों की

भरसक सहायता करना आदि भी थी। इस बात से यही विदित होता है कि नायर लोग वास्तव में एक प्रकार से केरल के क्षत्रिय ही माने जा सकते थे। 'केरल क्षिति-रत्न माला' नामक ग्रन्थ में नायर-जाति के उपर्युक्त वीर और लड़ाकू लोगों के विषय में प्रशंसा करते हुए लिखे जो तीन श्लोक मिलते हैं वे अत्यन्त महत्व-पूर्ण एवं स्मरणीय हैं। अतः उनका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

"केचिच्छस्त्रभृतां वर्यास्सर्वशास्त्र भृतां वराः।
तेषां वैशस्त्रशालासु वर्तन्तेखिल देवताः ॥

विप्रैरपिच ते मान्याः पाणिपादभवा अपि।
अक्षत्रं नैध ते ब्रह्म क्षात्रन्तेषु हि केरले ॥

उत्थानमाचरेत्तेभ्यस्सार्वभौमोप्यसंशयः।
शस्त्रिणां गुरवस्तेभ्यः प्राणश्शस्त्रेहि भूभुजाम् ॥

उपर्युक्त चौदह प्रकार के नायरों के अलावा चार प्रकार के नीच शूद्रों का उल्लेख भी 'जाति निर्णयम्' में मिलता है। वे तमिलनाडु, आन्ध्र, कन्नड आदि परदेशों से आकर केरल में व्यापार करनेवाले 'चेट्टि' 'चेट्टियार' आदि, यहीं पर कपड़े बुनने का काम करनेवाले 'चालियन्', उच्च जाति के लोगों तथा उपर्युक्त नायरों के कपड़े धोनेवाले धोबी 'वेलुत्तेटन', और उन्हीं लोगों का क्षौर-कर्म करनेवाले नाई—'वेलक्कत्तलवन्'— इस प्रकार चार तरह के अलग-अलग पेशेवाले शूद्र थे। उनको

औरों की अपेक्षा ज़रा पतित और अस्पृश्य मानने की प्रथा यहाँ प्रचलित थी। इस तरह केरल में पुराने समय कुल अठारह प्रकार के शूद्र-वर्णवाले लोगों का अस्तित्व माना गया था। आज के नवीन युग में यद्यपि पेशों के आधार पर विभाजित यह वर्ण-व्यवस्था केरल में पूर्ववत् प्रचलित नहीं है तो भी यहाँ जाति-भेदों को सूचित करनेवाली ऐसी जाति सूचक-संज्ञाएँ सर्वथा मिट नहीं गयी हैं। अतः यहाँ के लोग अपने नामों के साथ इन संज्ञाओं को यथापूर्व जोड़ा करते हैं।

अन्तराळ-जाति के लोग

'जातिनिर्णयम्' नामक ग्रन्थ में पूर्वोक्त दो तरह की 'न्यून जाति' के बाद बारह प्रकार की 'अन्तराळ जाति' के लोगों का वर्णन मिलता है। उसके आधार पर 'अन्तराळ जाति' का अलग विभाजन करने की प्रथा केरलीय आचारों और संस्कारों के कारण ही प्रचलित हुई थी, ऐसा मानना पड़ता है, क्योंकि 'अन्तराळ जाति' के लोग प्रायः आचार-भ्रष्ट ब्राह्मणों और शूद्रों के संपर्क से उत्पन्न संकर-वर्णवाले या पतित और जाति-भ्रष्ट ब्राह्मणों के परिवारवाले ही होते थे। अतः वे न ब्राह्मण माने जाते थे और न वे शूद्र की तरह निम्न वर्णवाले घोषित होते थे। अनुलोम-जन्मा और व्यभिचार-वृत्ति से उत्पन्न होनेवाले तथा ब्राह्मणों से नीचे और शूद्रों से उच्च स्थान पर सामाजिक प्रतिष्ठा पानेवाले 'अन्तराळ जाति' के ऐसे लोगों

को हम केरल में ही पाते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। 'अटिकळ्', 'पुष्पकन्' अथवा 'उण्णि' 'उण्यातिरी', 'नम्पियार', 'नम्पीशन', 'पिषारोटी', 'वार्यर', 'चाक्यार', 'पिटार', 'कुरुक्कळ्' 'नम्पिटी' आदि अलग नामों से वे पुकारे जाते थे, जिनकी परम्परा केरल में आज भी पूर्ववत् पायी जाती है। इनमें प्रत्येक नाम के संबन्ध में समाजिक दृष्टि से भ्रष्टाचार संबन्धी किसी न किसी कथा का समावेश भी बताया जाता था। आज भी केरल में इन्हीं जाति-सूचक संज्ञाओं के साथ अपना नाम बताने की पुरानी प्रथा अबाधित रूप से प्रचलित है, जिससे अल्प-संख्यक होने पर भी अन्तराळ जाति का अलग अस्तित्व साबित होता है।

शिल्प-जाति के भेद

केरल के लोगों के विषय में प्राचीन काल के ग्रन्थों के अनुसार 'अन्तराळ जाति' और 'शूद्र-जाति' के बाद 'शिल्प जाति' के छे भेद बताये गये हैं। वे 'आशारि' (बढ़ई), 'कल्लाशारि' (राज) 'मूशारि' (कांस्यकार), तट्टान् (सोनार), कोल्लन् (लोहार), ईर्चक्कोल्लन् (आराकस) हैं। वास्तु-कला और शिल्प से सम्बन्धित कार्यों के अनुसार ही इन लोगों का यह जाति-भेद पुराने समय में किया गया था, जो इस समय भी वैसे ही चालू है। 'शिल्प-जाति' के अन्दर बताये गये उन सभी लोगों को केरल में अन्य लोग पहले अस्पृश्य-जाति के अन्तर्गत ही

मानते थे। आजकल ऐसी अस्पृश्यता दूर की जा रही है जिस से इनको किसी प्रकार से अपवित्र मानने का साहस कोई नहीं कर सकता है।

पतित-जाति की जनता

'शिल्प-जाति' के बाद दस प्रकार के 'पतित-जाति' के लोगों का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलता है। 'कणियान्' (गणक अथवा ज्योतिषी), विलकुरूप (धनुषकार), वेलन् (नारियल के पेड़ों पर चढ़नेवाला व मन्त्रवादी), कुरूप् (शस्त्र-शाला में शस्त्राभ्यास करानेवाला), तोलकुरुप् (मोची), पाणन् (दर्जी), परवन् (चूना बनानेवाला), ईषवन् (ताड़ी बनानेवाला), मुक्कवन् (मछुवा), वालन् (वह मछुआ जो झीलों व तालाबों से मछली पकड़ता है मगर समुद्र नहीं जाता)—ये दस प्रकार के काम करनेवाले लोग पतित-जाति में शामिल किये गये हैं। ये भी पुराने समय में अपवित्र, पतित और अस्पृश्य ही माने जाते थे।

'पतित-जाति' की तरह 'नीच-जाति' का भी उल्लेख मिलता है। 'नीच-जाति' के लोगों को प्राचीन केरल में आठ प्रकार के भेदों के अन्तर्गत माना जाता था। 'परयर', 'पुलयर', 'नायाटि', 'उल्लाटन्' ये चारों प्रकार के आदिम-वासी पहाड़ों को छोड़कर अन्यत्र रहनेवाले तथा खेती करना, चटाई-टोकरी आदि बनाना, भीख माँगते हुए आवारा

होकर घूमना-फिरना, लकड़ी काटना आदि साधारण काम करनेवाले अशिक्षित एवं असभ्य लोग होते थे। ये सभी नीच जाति के अन्तर्गत माने गये थे। इनके अलावा पहाड़ों और जंगलों में ही घूमते-फिरते रहनेवाले अत्यन्त असभ्य और अशिक्षित 'वेटन्' (व्याध), 'कणियार' (चिडीमार), 'कुरुप्पर' (जंगली किसान), 'मलयरयर' (दूसरों से काम करानेवाला जंगली राजा) ये चारों प्रकार के लोग भी 'नीच जति' के अन्तर्गत ही गिने गये हैं। आधुनिक विद्वान लोग इन सभी जंगली लोगों को केरल के 'आदिम-निवासी' ही कहा करते हैं। इस प्रकार केरल के लोगों की कुल चौंसठ जातियाँ प्राचीन काल में प्रचलित थीं। ये जातियाँ आर्यों की जाति और वर्ण की विभाजन-प्रणाली से बिलकुल भिन्न प्रकार की बनी हुई थीं, यद्यपि इनका जाति-क्रम भी गुण और कर्म के आधार पर चलाया गया था और साथ ही इन में जन्म को भी सर्वाधिक महत्व अवश्य दिया गया था। आर्यों के समान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र इन चार प्रकार के वर्णों के अनुसार केरल के लोगों की जाति-व्यवस्था और वर्ण-विभाजन करने के बदले यहाँ के तत्कालीन प्रतिष्ठित धर्माधिकारियों ने अपने ढंग से चौंसठ अलग-अलग जातियों में सारी जनता का विभाजन करना उचित और आवश्यक समझा था। इस बात से एक हद तक केरल की निजी संस्कृति का प्राचीन स्वरूप और विकास समझने की सुविधा प्राप्त हो सकती है।

ईष़्वर लोग

केरल के लोगों में प्रतिष्ठा और प्रमुखता की दृष्टि से 'नम्पूतिरी' और 'नायर' के बाद 'ईष़्वर', 'चान्नार' या 'तीय्यर' लोगों का बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। केरल में नम्पूतिरी और नायर लोगों की अपेक्षा संख्या में ये लोग ही ज़्यादा मिलते हैं। विद्वानों का कहना है कि ये लोग भी नम्पूतिरी और नायर की तरह केरल में अन्य देशों से आये हुए हैं और ये यहाँ के आदिम निवासी कदापि नहीं माने जा सकते हैं। उनका यही विचार है कि ये लोग पहले सिंहल द्वीप के निवासी थे और केरल के एक पुराने शासक 'चेरमान् पेरुमाळ्' के आदेश को मानकर सिंहल के राजा की अनुमति लेकर यहाँ आकर बस गये थे। इनके 'ईष़्वर' और 'तीय्यर' नाम इनके आदिम जन्म-देश 'सिंहलद्वीप' के सूचक हैं, क्योंकि 'सिंहलर'—'हीष़्वर' बनने के बाद 'ईष़्वर' बना होगा और 'द्वीपर' धीरे-धीरे 'तीय्यर' भी बना होगा। यह भी कहा जाता है कि किसी समय सामन्त राजा सामोतिरी ने चावर-पटा नामक एक प्रबल सेना को सिंहल देश से बुला कर यहाँ ठहराया। उन्हीं को फिर 'चावर' 'ईषवर' आदि कहा करते थे। इन लोगों का जातीय धंधा नारियल के पेड़ों की खेती करना, नारियल से ताड़ी निकालना और बेचना आदि है। ये लोग इस समय केरल के नायरों के बराबर पढ़े-लिखे प्रतिष्ठित और प्रतापी बनते जा रहे हैं। आधुनिक केरल के

प्रधान सन्त और आचार्य श्री भगवान नारयण गुरु स्वामिकळ् अभिनव युग के महान क्रान्तिकारी महापुरुषों में एक माने जाते हैं, जिन्होंने केरल में अस्पृश्यता और जाति-भेद को दूर करने की कठिन साधना की थी। ईषवर-जाति के लोगों को बहुत ही प्रबल संगठन और संघ के अधीन लाने के महान कार्य में भी उन्होंने असीम सफलता और कीर्ति पायी थी।

अन्य लोग

ऊपर बताये लोगों के अलावा केरल में अन्य देशों से आये कई प्रकार के लोग इस समय भी स्थायी रूप से रहते हैं। उनमें तमिलनाडु से आये कुछ ब्राह्मणों तथा अन्य जातियों के कई परिवार मिलते हैं। 'पेरुमाळों' के ज़माने से यहाँ तमिल-भाषा-भाषी आया जाया करते थे। उन लोगों में कुछ विद्वान एवं राजनीतिज्ञ ब्राह्मण यहाँ के राजाओं के दरबारों में मन्त्रणा देते थे अथवा अन्य प्रकार के छोटे-मोटे राज-काज करते थे। बाकी कई ब्राह्मण यहाँ अध्यापन, पौरोहित्य, व्यापार आदि कार्य करने में लगे हुए थे। उन ब्राह्मणों के कई परिवार केरल में स्थायी रूप से बस गये। वे अपने घरों में इस समय भी अपनी मातृभाषा तमिल में ही बातचीत किया करते हैं, यद्यपि मलयालम उनकी प्रादेशिक भाषा होने से उसीमें उनकी शिक्षा-दीक्षा का कार्य संपन्न होता है। ऐसे ब्राह्मणों को नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के समान वरिष्ठता केरल में नहीं प्राप्त हुई है।

'पेरुमाळ्' राजाओं के समय-से लेकर तमिल-भाषा-भाषी अन्य जातियों के भी कई लोग केरल में आते रहे जो मज़दूर, किसान, व्यापारी आदि बनकर स्थायी रूप-से यहीं रहने लगे थे। उनकी परम्परा के लोग इस वक़्त भी यहाँ कम नहीं हैं। इसी प्रकार कन्नड़ प्रान्त के मैसूर, बंगलूर, मंगलोर आदि के आस-पास के लोग और 'उडुप्पी' प्रदेश के लोग भी यहाँ बसे हुए हैं। वे 'कन्नड़' या 'तुळु' भाषा बोलनेवाले लोग हैं। ऐसे ब्राह्मणों को केरल में 'एम्प्रान्तिरी' या 'पोट्टी' कहते हैं। तमिलनाडु से आये ब्राह्मणों को 'अय्यर' कहा करते हैं। 'एम्प्रान्तिरी' लोग केरल के मन्दिरों में पूजा का काम करते हैं। वे कई नगरों में होटल आदि भी चलाते हैं। आन्ध्र से भी कुछ लोग केरल आकर स्थायी रूप से बस गये हैं। उनकी संख्या बहुत कम है। वे अपने घरों में तेलुगु बोलते हैं।

केरल के समुद्र के किनारे जो प्रमुख शहर और व्यापार-केन्द्र बने हुए हैं उनमें 'कोंकिणी' जाति के बहुत-से लोग इस समय रहते हैं। उनमें कई लोग 'गौड़ सारस्वत-ब्राह्मण' हैं। कुछ अन्य जातियों के लोग भी हैं। उन सब की भाषा 'कोंकिणी' है जो मराठी से मिलती-जुलती एक प्रादेशिक बोली मात्र है। कहा जाता है कि 'गोवा' और आस-पास के 'कोंकण' नामक प्रदेश में ये लोग कई साल पहले रहते थे। जब पुर्तुगीज़-लोगों के शासन-काल में इन के पूर्वजों को अपने धार्मिक आचार-विचारों का समुचित रूप से पालन करने में

अनेकों कष्ट झेलने पड़े, तब उन विधर्मी शासकों से बचने के लिए कई धर्मपरायण लोग अन्यत्र जाने लगे। उनमें कई लोग केरल पहुँचकर यहीं सामन्तों के आश्रय में रहने लगे। यहाँ के उदार सामन्त राजाओं की शरण में आने के कारण उन लोगों को यहीं पर स्थायी रूप से रहते हुए व्यापार आदि करने की आवश्यक सुविधा प्राप्त हुई। उन दिनों के राजाओं की उदारता और दानशीलता से केरल में केवल शरणार्थी होकर आये उन 'कोंकिणी' लोगों को काफ़ी ज़मीन और सम्पत्ति अनायास ही संप्राप्त हो सकी। उन लोगों के लिए अलग देव-मन्दिर बनवाने तथा उनमें पूजा आदि कराने के लिए आवश्यक धन भी उन सामन्त राजाओं ने खुशी से उन्हें प्रदान किया था। उन दिनों के ऐसे मन्दिरों में 'मट्टांचेरी-कोचिन,' 'तुरवूर', 'आलपुषा', 'तलश्शेरी' आदि स्थानों में बने हुए बड़े वैष्णव-मन्दिर काफ़ी प्रसिद्ध और सम्पन्न माने जाते हैं। वे देवालय इस समय भी केरल में आनेवाले विदेशी यात्रियों को अपनी गरिमा और वैभव दिखाकर चकित और हर्षोन्मत्त कर डालते हैं।

विदेशी शरणार्थी, व्यापारी और आक्रमणकारी

विदेशों से आकर केरल में जो लोग स्थायी रूप से बस गये हैं, उनमें यहूदी, सिरियानी और रोमन ईसाई तथा मुसलमान लोग प्रधान हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि 'पेरुमाळ्' राजाओं के ज़माने में यहूदियों का केरल में सब से

पहले आगमन हुआ था। तब अपनी राजधानी 'कोटुंगल्लूर' या 'तिरुवञ्चिक्कुलम' में उन विदेशियों को अधिवास करने की सारी सुविधा उन उदार राजाओं ने प्रदान की थी। उसके बाद कोचिन के सामन्त राजाओं के भी वे अत्यन्त प्रिय-पात्र बन गये। अतः उन यहूदियों को कोचिन में भी रहने की अनुमति और सुविधा प्राप्त हुई। इस वक़्त कोचिन में यहूदियों के ऐसे कई पुराने घर आबाद हैं और उनका एक पुराना देव-मन्दिर भी वहाँ विद्यमान है। 'इसरेल' राज्य के बन जाने के बाद यद्यपि कोचिन के कुछ यहूदी स्त्री-पुरुष वहाँ जाकर रहने लगे हैं तो भी उनके परिवार के कई लोग इस समय भी कोचिन छोड़कर नहीं गये हैं। ऐसा लगता है कि वे यहीं केरल में रहना ज़्यादा पसन्द करते हैं।

ऐसा माना जाता है कि ईसा के प्रथम शताब्दी में ही ईसाई लोग केरल पहुँच चुके थे। सर्वप्रथम पादरी सन्त थोमस ही यहाँ आये थे। तब से लेकर कई ईसाई पदारियों ने समय-समय पर केरल के बहुत से हिन्दुओं को आपने धर्म में मिलाने का कार्य किया था। उन्होंने इस प्रकार अपने संघ को बहुत अधिक बढ़ाया और मज़बूत किया था। इसके कई ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं। केरल के वर्तमान कई ईसाई खानदानों के लोग पुराने नम्पूतिरियों के प्रतिष्ठित वंशज थे। उनके घरों के नामों से तथा वहाँ चालू कई विशेष प्रकार के रस्म-रिवाजों से यह बात निर्विवाद रूप से साबित हो सकती है। केरल में ईसाई

धर्मावलम्बी लोगों की संख्या इस समय बहुत बढ़ गयी है। केरल के सभी पुराने राजा लोग, सामन्तगण तथा अंग्रेज प्रशासक भी यहाँ के ईसाइयों से बड़ी मित्रता और उदारता का सलूक किया करते थे। इसलिए उन लोगों की प्रभुता और प्रतिष्ठा केरल भर में बड़ी आसानी से बढ़ती गयी। प्राचीन काल के सिरियानी ईसाई लोगों के पुराने गिरिजा-घर केरल में बहुत मिलते हैं। रोमन काथलिक, प्रोटेस्टन्ट, सिरियन आदि सभी सम्प्रदायों के ईसाई लोग केरल में हर कहीं पाये जाते हैं। उनकी संस्थाएँ तथा संगठन यहाँ काफ़ी मज़बूत बन गये हैं। अतः आज केरल के ईसाई लोग इतने अधिक प्रबल और प्रतिष्ठित माने जाते हैं कि यहाँ के प्रत्येक सामाजिक शैक्षणिक एवं प्रशासनिक कार्य में उनका हाथ विशेष रूप से अवश्य मजबूत रहता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि शुरू से लेकर केरलीय संस्कृति विधर्मियों को भी आत्मसात् करती रही है।

केरल में इस समय मुसलमान लोग भी बहुत रहते हैं। उनको यहाँ के अन्य लोग 'माप्पिला' या 'जोनक' कहते है। कहते हैं कि 'यवन' शब्द के तद्भव के रूप में ही 'जोनक' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह कथन सच माना जा सकता है तो यही अनुमान करना पड़ता है कि केरल में बहुत पहले ही ग्रीस राज्य से कुछ यवन लोग आ कर बस रहे थे जिससे यहाँ के प्राचीन आदिवासी लोग पश्चिम से आनेवाले सभी प्रकार के लोगों को शायद 'यवन' ही कहा करते थे। अरब

देश से आये मुसलमान लोगों को 'यवन' या 'जोनक' कहने की प्रथा से इतना अवश्य विदित होता है कि केरल तक यवन लोगों की कीर्ति प्राचीन काल में भी फैली हुई थी। वास्तव में, मुसलमान लोग सबसे पहले व्यापार करने के इरादे से ही अरब देश से यहाँ आये थे। लेकिन धीरे-धीरे यहाँ के लोगों के साथ वे हिल-मिलकर रहने लगे और यहाँ की भाषा सीखने के बाद राज-काज में भी भाग लेने लगे। इतना ही नहीं, यहाँ के हिन्दुओं को मुसलमान धर्म में मिलाने का कार्य भी उन्होंने बड़ी सफ़लता से किया। केरल में प्रचलित जाति-व्यवस्था और उससे यहाँ के तत्कलीन अधिवासियों की विषमता के कारण मुसलमानों को अपने धर्म में यहाँ के कई लोगों को मिलाने की बड़ी सुविधा प्राप्त हुई। इस तरह सुदूर अरब देश से व्यापार के लिए यहाँ आये मुसलमान लोग अपने दल की संख्या बढ़ाने में भी सफ़ल निकले। इस देश पर वे आगे चलकर अपना प्रभुत्व और महत्व कायम करने में पूरी तरह से कामयाब हुए। मुसलमान लोग जो पहले विदेशी थे, यहाँ की भाषा मलयालम में अनेकों अरबी और फारसी शब्दों को मिलाकर बातचीत किया करते थे। उनके द्वारा मलयालम भाषा को 'माप्पिल-मलयालम' नामक एक नयी भाषाशैली भी उपलब्ध हो गयी है जिसमें अरबी और फारसी के कई शब्द तत्सम या तद्भव रूप में विद्यमान हैं। इस प्रकार केरल की जनता को यहूदी, ईसाई और मुसलिम-इन तीनों प्रकार के विदेशी एवं विधर्मी लोगों की

धार्मिक संस्कृतियों के आदान-प्रदान के कई अवसर मिले। इस कारण से कई प्रकार की अपूर्व विशेषताएँ यहाँ की प्रादेशिक संस्कृति में इस समय मौजूद हैं।

प्रत्यक्ष रूप से केरल की संस्कृति में बौद्धों और जैनों का दक्षिण भारत के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बहुत कम प्रभाव पड़ा है। अब यहाँ उन धर्मावलम्बी लोगों की संख्या भी बहुत कम है। आजकल गुजराती और मारवाड़ी व्यापारी लोग भी केरल में काफ़ी संख्या में पाये जाते हैं। उनमें कुछ लोग तो अवश्य ही जैन होते हैं। जैनों और बौद्धों के प्राचीन काल के प्रस्तर-खण्डों पर लिखे कई शिला-लेख और पत्थर की बनी गौतम-बुद्ध की कई प्रतिमाएँ केरल में कहीं-कहीं उपलब्ध होती हैं। लेकिन जगद्गुरु शंकराचार्य की जन्म-भूमि केरल में उन दोनों धर्मों की प्रतिष्ठा खूब जम न सकी और जो कभी उनका प्रचार रहा था तो वह भी पूर्ण रूप से मिट गया।

प्राचीन तमिल-ग्रन्थों के आधार पर जातियाँ

कई प्राचीन तमिळ ग्रन्थों के आधार पर केरल के सब से पुराने लोगों की जातियाँ भी तमिलनाडु की तरह आठ प्रकार की मानी गयी थीं। वे 'अरिवर', 'उळवर', 'अय्यर' 'वॅड्डुवर', 'कम्माळर,' 'पटयटिच्चर,' 'वलयर' और 'पुलयर' नाम से विभाजित थीं। उनमें 'अरिवर' जाति के लोग सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। वे बड़े ज्ञानी, दैवज्ञ एवं आदर्श-निष्ठ रहा करते थे। भविष्य के सम्बन्ध में प्रवचन देने की

शक्ति उनको अपनी विरक्ति और तपस्या से प्राप्त हुई थी। वे प्रायः जनता के बीच में नहीं रहा करते थे और जंगलों में साधु और सन्यासी होकर निष्ठा-पूर्ण जीवन बिताते थे। 'उळवर' जाति के लोग ही जनता का नेतृत्व और शासन करते थे। उनका काम खेती करना और कराना ही मुख्य था। वे भूमि के स्वामी माने जाते थे। उनमें कई लोग सम्पन्न और सुखी थे। उनको 'काराळर' या 'वॅळ्ळाळर' भी कहा करते थे, जिनमें कई लोग 'वीळुकुटि उळवर' माने जाते थे। 'अय्यर' और 'वॅड्डुवर' जाति के लोग 'उळवर' की अपेक्षा निम्न जाति के कहे जाते थे। 'अय्यर' जाति के लोग गडरिये और ग्वाले थे तो 'वॅड्डुवर' जाति के लोग चिडीमार और शिकारी थे। 'अय्यर' जाति के अन्तर्गत ही सोनार, लुहार, बढ़ई, कुम्हार आदि लोग भी माने जाते थे। 'पटयटिच्चर' जाति के लोग शस्त्रधारी होकर युद्धों में लड़ने जाया करते थे और कभी चोरी, डाका, लूट आदि भी किया करते थे। उनसे समाज के अन्य लोग बहुत डरते रहते थे। 'वलयर' जाति के लोग मछुए थे और 'पुलयर' भंगी और झाड़ू देनेवाले थे। उन्हें अन्य सब लोगों की जाति की उच्चता देखकर उनके रास्ते से सदैव हटकर चलना जरूरी था।

यह भी कहा जाता है कि उन दिनों में केरल के पुरुष अपनी हैसियत और प्रभुता के अनुकूल वस्त्रधारण किया करते थे। उनके कपड़े घुटनों तक ही लम्बे होते थे। वे अपने

सिर पर एक कपड़े की पगड़ी भी बान्धा करते थे। वे सिर के बाल बढ़ाकर चोटी बनाकर या तो दाहिनी या बाईं तरफ़ बांध कर लटका देते थे या उसे नोकदार बान्ध कर सिर पर ही मुकुट की भाँति सजाये रखते थे। प्रमुख पुरुषों के गले में नीले रंग के काँच के मोतियों की माला रहा करती थी। उन दिनों की स्त्रियाँ अपनी छाती खुली रखा करती थीं और सिर्फ कमर के नीचे का भाग वस्त्र से आच्छादित करती थीं। उनका वस्त्र कमर से पाँव तक लम्बा लटका रहता था। वे शरीर के खुले वक्ष और हाथों पर चन्दन ज़रूर लगा लेती थीं। कभी चन्दन के बदले सुगन्धित चूर्ण लगाने का रिवाज़ भी था। 'नाग-जाति' की स्त्रियाँ हरे पत्तों को डोरी में पिरोकर पहना करती थीं। सभी स्त्रियाँ केश पर कोई तेल अवश्य लगाया करती थीं। स्त्रियाँ कई प्रकार के गहने भी पहन लेती थीं। चोटी पर फूल सजाने का भी क्रम प्रचलित था। आँखों और भौंहों पर काजल लगा लेना उस समय की आम प्रथा थी। सभी घरों में खुशबूदार चीज़ें जला कर सुगन्धित धुआँ फैलाने की भी रीति उस समय खूब प्रचलित थी। आम तौर से स्त्रियाँ घर छोड़कर बाहर नहीं जाया करती थीं। लेकिन अपने अहातों और खेतों में जाकर काम किया करती थीं और मेलों में पुरुषों के साथ घूमा करती थीं। प्रायः मन्दिरों में सभी स्त्रियाँ अवश्य जाया करती थीं। इसमें शक नहीं था कि उन दिनों की केरलीय स्त्रियाँ काफ़ी स्वतंत्र रहा करती थीं और

अपने पुरुषों को चुन लेती थीं। तलाक की सुविधा भी उन्हें उपलब्ध थी।

उन दिनों के लोगों के खान-पान के सम्बन्ध में भी एक सुप्रसिद्ध प्राचीन गान में यों लिखा हुआ मिलता है:— "शिकारी लोग उस वीर पुरुष को सागवान के बड़े पत्ते में लाल चावल का बना भात परोस देते हैं और गोह का भुना मांस भी डाल देते हैं। ग्वाले लोग उसे दूध में उबाला हुआ भात, मूँग और दाल देते हैं। खेतों में काम करनेवाले नौकर लोग उसको धवल अन्न के साथ मुर्गी का भुना मांस देते हैं। समुद्र के किनारे के मछुवे लोग उसको ताड़ के पत्ते के बने दोने में भात और मछली खाने के लिए बुलाते हैं। ब्राह्मण लोग उसको अपने यहाँ के मीठे अन्न और आम के अचार को प्रेम से परोस देते हैं। 'उळवर' लोग उस वीर युवक को कटहल, केले डाभ आदि देते हैं। ताड़ी की दूकान के मालिक का अनुरोध होता है कि वह उसके यहाँ जाकर खूब ताड़ी पीवे और मछली के साथ सुअर का मांस खा ले।"

उपर्युक्त तमिल ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन केरल की साधारण जनता की विभिन्न जातियों का जो वर्णन मिलता है वह इसी बात को प्रमाणित कर देता है कि केरल के लोगों का जाति-क्रम प्रारंभ-काल में आर्यों के प्रभाव से सर्वथा स्वतन्त्र रहा था, और यहाँ की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता द्राविड़

अर्थात् तमिळ संस्कृति से ही उत्पन्न हुई होगी। आर्यों के आगमन के बाद उन्होंने आदान-प्रदान के द्वारा अद्भुत क्रान्ति अवश्य मचायी होगी, जो यहाँ के लोगों के लिए भी स्पृहणीय रही होगी।

प्राचीन काल से लेकर अब तक के केरल राज्य के अधि-वासी-लोगों के इस संक्षिप्त परिचय से हम यह अवश्य जान सकते हैं कि इस राज्य में नम्पूतिरी, नायर, तीयर, पुलयर जैसे विविध प्रकार के जातिवाले हिन्दुओं के साथ ईसाई और मुसलमान लोग भी मिलजुल कर रहते हैं और यहाँ साम्प्रदायिक और धार्मिक झगड़े बहुत कम हुए हैं। धर्म-भेद, देश-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद आदि के कारण यहाँ के लोगों की पारस्परिक मित्रता और घनिष्ठता कदापि कम नहीं होती है। विविध प्रकार के लोगों के विवेकपूर्ण सम्मिश्रण से केरल में एक सर्वग्राही समन्वयात्मक सुखद संस्कृति का सुन्दर विकास अवश्य हुआ है। हम इसको केरल की अपनी विशेषता मान सकते हैं जो भारत में अन्यत्र दुर्लभ है।

परम्परागत आचार-विचार और रीति-रिवाज़

यह पहले ही बताया जा चुका है कि केरल के अधिवासियों में अधिकांश लोग हिन्दू धर्म को माननेवाले हैं। उन हिन्दुओं में भी 'नम्पूतिरी' और 'नायर' जाति के लोग प्राचीन काल से यहाँ प्रतापी एवं प्रमुख माने जाते हैं। इसलिए इस देश की निजी संस्कृति को खूब समझा देनेवाले यहाँ के सैकड़ों परम्परागत रीति-रिवाजों और आचार-विचारों का सीधा सम्बन्ध विशेष रूप से इन दोनों जातियों के लोगों से अवश्य जुडा रहता है।

विवाह और दाम्पत्य जीवन

बहुत पुराने ज़माने से केरल में कुछ ऐसी सामाजिक रीतियाँ और आचार-विचार प्रचलित हैं जो भारत के अन्य प्रान्तों से बिलकुल विभिन्न हैं। पुरानी रूढ़ियों के अनुसार यहाँ के समाज में सर्वोच्च स्थान केवल नम्पूतिरियों के लिए ही संप्राप्त और सुरक्षित था। अपनी सामाजिक वरिष्ठता, विशिष्टता और प्रभुता को एवं कौटुम्बिक श्रेष्ठता और संपत्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए नम्पूतिरी लोगों ने कुछ खास प्रकार

के वैवाहिक नियम यहाँ प्रचलित किये थे। इसलिए 'सजातीय विवाह,' 'बहु-विवाह' और 'विजातीय विवाह'—ये तीनों प्रकार की वैवाहिक प्रथाएँ नम्पूतिरी-ब्राह्मणों में पहले खूब प्रचलित थीं। उन लोगों में केवल पिता का ज्येष्ठ पुत्र ही अपनी जाति की किसी स्त्री से विवाह कर सकता था। उसी ज्येष्ठ पुत्र को अपनी जाति की एक से अधिक कन्याओं से आवश्यकतानुसार विवाह करने का विशेष अधिकार भी प्रदत्त था। इस प्रकार की 'बहु-विवाह प्रथा' को सामाजिक और धार्मिक मान्यता उपलब्ध होती थी। अतः पुराने ज़माने में नम्पूतिरी-कुटुम्ब के प्रायः सभी ज्येष्ठ पुत्र अपनी जाति की तीन-चार अथवा उससे भी अधिक कन्याओं से शादी कर लेते थे। उन सभी सपत्नियों को वे अपने-अपने 'इल्लम्' (घर) में एक साथ ठहरा कर अपनी विचित्र गृहस्थी चला सकते थे जो कभी विषादमय होती थी तो कभी विनोदपूर्ण। नम्पूतिरी जाति की स्त्रियों से शादी करने का हक केवल नम्पूतिरी-ब्राह्मण का ही माना जाता था। वह विवाह भी अपनी उप-जाति और कुलीनता के गौरव के अनुकूल होना परम आवश्यक था। प्रत्येक नम्पूतिरी घराने के ज्येष्ठ पुत्र को छोड़कर अन्य कनिष्ठ नम्पूतिरी-युवक-लोग, क्षत्रिय, नायर, अन्तराळ आदि किसी सवर्ण जाति की स्त्रियों से 'विजातीय विवाह-प्रथा' अथवा 'सम्बन्धम्' के अनुसार विवाहित हो जाते थे। लेकिन उन विजातीय स्त्रियों से उत्पन्न उनकी सन्तान का अपने पिता नम्पूतिरी की सम्पत्ति पर किसी

प्रकार का अधिकार नहीं था। ऐसी सभी सन्तानें अपनी माता की जाति की ही मानी जाती थीं। उनके पालन-पोषण का भार भी उस नम्पूतिरी जाति के पिता पर कदापि नहीं पड़ता था। इसी विचित्र 'विजातीय वैवाहिक प्रथा' को केरलीय समाज में 'संबन्ध करना' कहते हैं। पहले इस प्रथा को केरल के सभी लोगों के बीच में सामाजिक मान्यता और वैधानिक स्वीकृति उपलब्ध थी। शताब्दियों तक यह प्रथा बहुत ही लोकप्रिय होने से केरल में खूब प्रचलित रही थी।

जिस प्रकार केरल के नम्पूतिरी, नायर, सामन्त आदि जातियों के लोगों के बीच में प्रचलित 'विजातीय विवाह' को 'सम्बन्धम्' कहा करते थे, उसी प्रकार 'नायर' जाति के स्त्री-पुरुषों में जो 'सजातीय विवाह' होता था उसको भी 'सम्बन्धम्' अथवा 'पुटवकोटुक्कल' का नाम दिया जाता था। 'सम्बन्धम्' का रस्म अदा करने के लिए वर को अपनी वधू के लिए नये कपड़े और पान-सुपारी वधू के घर के प्रमुख स्त्री-पुरुषों के बीच में ले जाकर दे देना मात्र आवश्यक माना जाता था। इसी रस्म को 'पुटवकोटुक्कल' कहा करते थे। 'पुटवकोटुक्कल' के बाद उस पुरुष को वह स्त्री अपना पति मान लेती थी। लेकिन उन दोनों के दाम्पत्य-जीवन में कोई स्थायित्व अनिवार्य नहीं माना जाता था, क्योंकि 'सम्बन्धम्' के अनुसार चाहे स्त्री हो या पुरुष, अपनी इच्छा और आवश्यकता के आधार पर स्वयं तलाक देने की सुविधा भी रखता था।

तलाक के लिए पहले किसी प्रकार की सामाजिक या कानूनी कार्रवाई नियत नहीं थी। स्त्री या पुरुष अपनी इच्छा मात्र से किसीकी स्वीकृति या अनुमति पाये बिना भी, एक दूसरे का 'सम्बन्ध-विच्छेद' अवश्य कर सकता था। नायर-जाति के लोगों की इस 'सजातीय वैवाहिक-प्रथा' अथवा 'सम्बन्धम्' में पुरुष की जाति और उपजाति की श्रेष्ठता का खयाल भी अवश्य रखा जाता था। लेकिन दक्षिण के तमिलनाडु, आन्ध्र और कन्नड प्रदेशों में प्रचलित 'मामा और भानजी के बीच में होनेवाला विवाह' केरल में बिलकुल नहीं हुआ करता था। ऐसे विवाह-सम्बन्ध को अत्याधिक त्याज्य और पापपूर्ण मानने का रिवाज़ केरल में अब भी प्रचलित है।

'तीयर', 'ईषवर' आदि लोगों के बीच में विजातीय विवाह और 'सम्बन्धम्' को मान्यता नहीं प्राप्त हुई थी। वे सजातीय विवाह मात्र को मान्यता देते थे। उनके बीच में तलाक देने की प्रथा भी कम प्रचलित थी। उनके बीच में होनेवाले विवाह का स्थायित्व और दायित्व औरों की अपेक्षा अधिक प्रबल रहा करता था, क्योंकि उनके समाज में पुरुष की प्रतिष्ठा और सत्ता अधिक मानी जाती थी। उनके समाज में स्त्री को अपने विवाह के बाद पुरुष के घर जाकर रहना आवश्यक भी माना जाता था। उनके बीच में 'सम्बन्धम्' के बदले 'पॅण्गुकॅट्टु', 'कुटिवैप्पु' या 'कल्याणम्' नामक प्रथा के अनुसार सजातीय शादियाँ निराडम्बर पूर्वक हुआ करती

थीं। 'पुलयर' जाति के लोगों में भी सजातीय विवाह की प्रथा मात्र प्रचलित थी। पहले 'तीयर' और 'पुलयर' लोगों में विजातीय विवाह को सबसे अक्षम्य अपराध माना जाता था। उन सब लोगों में केरलीय दायक्रम के अनुसार 'मरुमक्कत्तायम्' को मानकर सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा चलाने की रीति भी बहुत कम पायी जाती थी।

यद्यपि दक्षिण भारत के अन्य प्रदेशों की तरह केरल में भी कन्याओं को 'मांगल्य सूत्र-धारण' कराने की प्रथा प्रचलित थी, तो भी उसका कोई सम्बन्ध विवाह से सर्वथा नहीं लगा रहता था और यहाँ उसकी धार्मिकता और पवित्रता का पर्याप्त आदर कभी नहीं किया जाता था। विधवा-विवाह की समस्या नम्पूतिरी-ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य केरलीय जातियों में कदापि उठ नहीं सकती थी, क्योंकि उनके बीच में विधवाएं नहीं हुआ करती थीं। स्त्री या पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार विवाहित या अविवाहित रहने के लिए सर्वथा स्वतन्त्र रहा करते थे। केरल के आचारों को न माननेवाले अन्य केरलवासी लोग अपने-अपने धर्म और सम्प्रदाय के अनुसार केरल में भी अपना वैवाहिक जीवन बिताया करते थे। उनपर किसी प्रकार से आचार सम्बन्धी बलात्कार या अनुरोध कभी नहीं किया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा भी केरल में बहुत कम लोगों में ही रही थी। अतः केरल के लोगों का दाम्पत्य-जीवन आधुनिक दृष्टि से भी क्रान्ति-पूर्ण कहा जा सकता है।

नम्पूतिरियों तथा नायरों के खानदानों में 'सम्मिलित-परिवार' की—एक साथ मिलजुल कर रहने की—प्रथा ही पहले चालू थी। परिवार का सब से बड़ा बूढ़ा व्यक्ति ही खानदान के सब लोगों के खर्च के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करता था और वही कुटुम्ब के सभी लोगों के भरण-पोषण का कार्य करता था। घर के समस्त प्राणियों को उसी बूढ़े व्यक्ति की देख-रेख और अनुशासन के अन्तर्गत रहना पड़ता था। यदि कोई व्यक्ति कहीं से स्वतन्त्र होकर कुछ न कुछ धन कमा लाता तो वह भी उस कुटुम्ब की सम्पत्ति में मिला देना ज़रूरी माना जाता था। परिवार के किसी पुरुष या स्त्री को कौटुंबिक जायदाद या धन-सम्पत्ति का बँटवारा कराने और अपने लिए कोई अलग हिस्सा तलब करने का अधिकार या हक नहीं दिया जाता था। सभी लोग परिवार के आश्रित मात्र माने जाते थे।

आज स्वतन्त्र भारत के नये युग की रोशनी में केरल के नंपूतिरी और नायर आदि लोगों के ये विचित्र सामाजिक नियम बिलकुल बदल चुके हैं। विजातीय विवाह की पुरानी प्रथा अथवा 'सम्बन्धम्' की रीति आजकल एक दम बन्द हो चुकी है। नम्पूतिरी-परिवार के सब पूरुष, चाहे ज्येष्ठ हों या कनिष्ठ हों, अब अपनी जाति में ही विवाह करना उचित और आवश्यक मानने लगे हैं। साथ ही, बहु-विवाह करने की पुरानी प्रथा भी नम्पूतिरियों में बिलकुल कम होती जा रही है। इसका

कारण यह भी है कि इन पुरानी प्रथाओं की सामाजिक और वैधानिक मान्यता अब नष्ट हो चुकी है। हिन्दुओं के उत्तराधिकार-सम्बन्धी तथा विवाह-सम्बन्धी नवीन कानूनों ने केरल के प्राचीन सभी सम्मिलित परिवारों की नींव हिला दी है। अतः नम्पूतिरी-परिवारों के प्रायः सभी पुरुष आजकल अपनी सम्पत्ति का बँटवारा करके अपना अलग घर चलाने लगे हैं। 'विजातीय विवाह' को भी सजातीय विवाह के समान वैधानिक मान्यता और स्थायित्व प्राप्त होने लगा है। अतः विजातीय विवाह से उत्पन्न सन्तान आजकल अपने पिता की जाति की मानी जाने लगी है और उसको अपने पिता की सम्पत्ति पर हक होने लगा है। इस प्रकार के नवीन परिवर्तनों को प्राचीन केरलीय-समाज की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही अत्यन्त क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील ही मानना पड़ता है।

मरुमक्कत्तायम

नंपूतिरी-परिवारों को छोड़कर केरल की प्रायः अन्यान्य हिन्दू-जातियों के लोगों में पहले अपने 'सम्मिलित-परिवार' की सुरक्षा के लिए सम्पत्ति और विरासत के क्रम का एक खास नियम प्रचलित था, जिसे 'मरुमक्कत्तायम्' कहा करते थे। 'मरुमक्कत्तायम्' के अनुसार कौटुंबिक सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व कुटुंब की स्त्रियों का ही माना जाता था। स्त्री के नाम पर खान-

दान के सब से बड़े पुरुष जो उसी के भाई या मामा लगते थे, घर की सम्पत्ति की देख-भाल करने का काम मात्र करते थे। उनको खानदान के लोग 'कारणवर' कहते थे। 'कारणवर' का पद खानदान के प्रधान सचिव या मुख्य संचालक के बराबर संपूज्य और प्रतिष्ठित माना जाता था। 'कारणवर' संपत्ति की वैधानिक स्वामिनी स्त्रियों की स्वीकृति लेकर और कभी बिना स्वीकृति के भी, जायदाद का क्रय-विक्रय तक कर सकता था, लेकिन बँटवारा करके कभी खानदान की सामूहिक संपत्ति को शिथिल नहीं बना सकता था। 'कारणवर' के उत्तरदायित्व पर कुटुम्ब के सभी स्त्री-पुरुष अपनी शिक्षा-दीक्षा, भोजन-वस्त्र, चिकित्सा आदि पाने का यथोचित हक मात्र रखते थे। 'कारणवर' के अधीन रहनेवाले घर के पुरुष या तो उसके कनिष्ठ भ्राता लगते थे या भागिनेय। स्त्रियाँ उसकी बहनें अथवा भानजियाँ होती थीं। उसकी अपनी पत्नी और सन्तानों का कोई हक उसके परिवार में नहीं रहता था। इसी प्रकार घर के अन्य पुरुषों की सन्तानों का भी कोई हक उस घर की सम्पत्ति पर नहीं हो सकता था। 'कारणवर' के अधीन रहनेवाले स्त्री-पुरुषों को 'मरुमक्कल' कहते थे। खानदान की सारी सम्पत्ति 'मरुमक्कलों' की होती थी। इसीलिए इस दायक्रम को 'मरुमक्कत्तायम्' का नाम मिला है। इस दायक्रम के अनुसार पुरुष की सन्तानों को अपने पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं था, बल्कि उनका हक माता की संपत्ति पर

सुनिश्चित था। इसलिए मामा की संपत्ति भानजे-भानजियों को या माता की संपत्ति सन्तानों को मिलती थी। मगर पिता का कोई आर्थिक या सामाजिक उत्तरदायित्व उसकी सन्तान पर कभी नहीं होता था। वंश की परम्परा की रक्षा उसकी स्त्री-सन्तानों पर ही निर्भर थी। केरलीय परिवारों की स्त्रियाँ, अपनी जाति के या उससे उच्च जाति के पुरुषों से विवाह कर लेती थीं। विवाह के बाद पुरुष अपनी पत्नी के घर में जाकर रह सकता था। लेकिन वह कभी अपनी पत्नी को अपने घर यानी मातृगृह में ले जाकर ठहरा नहीं सकता था। स्त्री का पति यदि उससे उच्च जाति का पुरुष होता था तो वह अपनी पत्नी के घर का भोजन भी कभी नहीं कर सकता था। इसलिए सम्पन्न खानदानों अथवा 'तरवाटों' के मुख्य भवनों के पास ही ऐसे उच्चवर्णवाले पति के रहने के लिए अलग छोटे घर आदि की व्यवस्था भी कहीं कहीं बनायी जाती थी। लेकिन आज-कल तो इन रीतियों में काफ़ी परिवर्तन हो गया है और 'मरुमक्कत्तायम' का प्रचलित पुराना कानून भी बहुत कुछ सुधरा गया है और उसके स्थान पर भारत के अन्य राज्यों के हिन्दुओं के जो कानून चालू हैं वे ही केरल के लोगों के लिए भी लागू किये जाने लगे हैं। बहुविवाह की प्रथा गैर-कानूनी घोषित हो चुकी है। केरल में भी पिता की संपत्ति पर आज सन्तान का पूरा हक माना जा रहा है। अब 'मरुमक्कत्तायम्' का प्रचार बिलकुल बन्द हो गया है।

वास्तव में, भारत के स्वतन्त्र होने तक केरलीय समाज में 'मरुमक्कत्तायम्' की प्रथा बहुत अधिक प्रबल और प्रचलित रही। अतः यहाँ के लोगों की सामाजिक स्थिति और व्यवस्था अन्य प्रदेशों से सर्वथा भिन्न और विचित्र मानी जाती थी। प्राचीनतम सैन्धव-धर्म और संस्कृति में स्त्री के 'मातृ-स्वरूप' को सर्वाधिक महत्व प्राप्त था। उस समय के लोग मातृशक्ति की उपासना निर्विवाद रूप से करते थे। कदाचित् उसी संस्कृति का प्रभाव केरल पर पड़ा होगा, क्योंकि उसी प्रकार पुराने ज़माने से लेकर 'मातृसत्तात्मक समाज' और संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान केरल में सुरक्षित रहता आ रहा था। केरलीय स्त्रियों का सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार इसकी पुष्ठि करनेवाला प्रबल प्रमाण है। इससे केरलीय संस्कृति की प्राचीनता और अनुपमता का गौरव भी साबित होने की संभावना है।

अपवित्रता और शुद्धि-कर्म

यह पहले ही बता चुके हैं कि केरल के हिन्दुओं में कई मुख्य जातियाँ और उप-जातियाँ पाई जाती हैं। अतः इन विभिन्न जातियों के लोगों के पारस्परिक व्यवहार तथा खान-पान के सम्बन्ध में कई प्रथाएँ और नियम प्रचलित हैं। इन सामाजिक नियमों में 'स्नान-शुद्धि की व्यवस्था' सबसे मुख्य है। प्राचीन युग में एक जाति के लोग अपने से भिन्न और निम्न जाति के लोगों के साथ 'तोट्टुकुळि', 'तीण्टिक्कुळि' आदि

छुआछूत से सम्बन्धित विविध एवं विचित्र आचारों का पालन बराबर करते थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च वर्ग के लोग नायर, शूद्र, अन्तराल, पतित आदि निम्न जाति के लोगों के शरीर का स्पर्श होने से अपने को तुरन्त अपवित्र समझते थे। उस तात्कालिक अपवित्रता को दूर करके स्वयं पवित्र या शुद्ध होने के लिए शीघ्र ही वे स्नान कर लेते थे। इस 'स्नान-विधान' को "तोट्टकुळि' याने 'छूने पर स्नान' कहते हैं। यह प्रथा अब भी कई कट्टर और धार्मिक परिवारों के लोगों के आचरण में जारी है।' 'ईषवर', 'पुलयर', 'चेरुमर' आदि अत्यंत निचली श्रेणी के लोग एक निश्चित सीमा से अधिक निकट आ जाते तो सभी उच्चवर्णवाले लोग, चाहे नम्पूतिरी हो या नायर, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, अपने को झट अशुद्ध मानते थे। अतः वे तुरन्त ही स्नान कर शुद्ध हो जाते थे। केरल में प्रचलित जातियों की उच्चता-नीचता की हैसियत के अनुसार छुआछूत की यह दूरी भी बढ़ती या घटती थी। इस आचार को 'तीण्टिक्कुळि' याने 'पास आने पर स्नान' कहते हैं। केरल में किसी मृतक के घर गमी के समय या शव-संस्कार के समय जाने के बाद बिना स्नान किये कोई आदमी अपने घर लौटता नहीं है। इस स्नान को 'चावुकुळि' कहते हैं। केरल में उच्च-जाति के लोगों में प्रत्येक स्त्री या पुरुष के लिए सबेरे स्नान करना अनिवार्य माना जाता था। जो किसी कारण से स्नान नहीं करता

था, तो उसको अपवित्र या अशुद्ध मानते थे। इस प्रकार की अशुद्धि का नाम है 'कुळियाशुद्धि' याने 'स्नान न करने की अशुद्धि'। इसी प्रकार 'पेट्टुपुला' याने 'प्रसव की अशुद्धि', 'चत्तपुला' याने 'गमी की अशुद्धि' आदि कई प्रकार की अशुद्धियाँ भी केरल के लोग मानते थे और आज भी मानते हैं। इसके अलावा केरल में 'पुण्याह-शुद्धि' नामक मन्त्रोच्चारण से मन्त्रपूत जल का प्रक्षालन करने का विधान भी एक प्रकार का शुद्धि-कर्म माना जाता है।

केरल की विविध जातियों के लोगों में खान-पान करने के विषय में भी छुआछूत के कई विचित्र नियमों का पालन आवश्यक और अनिवार्य माना जाता था। उच्च वर्ग के नम्पूतिरी, सामन्त आदि यज्ञोपवीत का संस्कार रखनेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग कभी अपनी जाति से निम्न और पतित जाति के आदमी का छुआ या पकाया हुआ खाद्य नहीं खाते थे। इसी तरह अन्यान्य जातियों के लोग भी अपनी जाति से निम्न मानी जानेवाली जातियों और उपजातियों के बीच में खान-पान के विषय में कई कठोर नियमों का पालन करते थे। किसी का जूठन खाना भी निषिद्ध माना जाता था। आज कल भी जलपान करते समय प्याले को ओंठों पर लगाकर जूठा बनाते हुए चुस्की लेकर पीना केरल में प्रायः अनुचित और अपवित्र कार्य माना जाता है।

अन्तिम संस्कार की प्रथा

केरलीय समाज में मृतकों का अन्तिम संस्कार करने के लिए प्रत्येक घर के चारों तरफ़ जो अहाता होता है उसी के एक कोने में घरेलू श्मशान की व्यवस्था की जाती थी। अलग श्मशान बनाने का क्रम प्राचीन काल में केरल में कहीं नहीं था। यह ठीक है कि आजकल तो उसका प्रबन्ध अवश्य किया जा रहा है और कहीं किसी श्मशान में मृतक-शरीर को ले जाकर संस्कार कराने का अनुरोध भी किया जा रहा है। लेकिन बड़े प्रतिष्ठित घराने में अब भी वही पुरानी प्रथा पूर्ववत् चल रही है। केरल में उच्च वर्गों के शव-शरीरों को चिता में जलाने और अन्य जातियों की लाशें गाड़ देने का क्रम है। आम के पेड़ की लकड़ियों से चिता बनाने की पुरानी रीति केरलीय परम्परा में ज्यों की त्यों इस समय भी प्रचलित है। केरल में गोबर के उपले आदि चिता के काम में कहीं नहीं लाये जाते हैं।

क्रान्तिकारी परिवर्तन

'आचार संग्रह' अथवा 'केरलाचारम्' नामक ग्रन्थ में केरल के कई विचित्र और विशिष्ट आचारों के सम्बन्ध में यों लिखा है :—

"चतुःषष्ठिरनाचारान् केरलेषु वदन्ति हि
अन्यत्राचरणाभावात् अनाचार इतीरितः"

इससे ज्ञात होता है कि अन्यत्र आचरित न होनेवाले चौंसठ 'अनाचार' केरल में पहले प्रचलित थे। उनमें कई 'अनाचार' तो ऐसे थे जो व्यक्ति और समाज के स्वास्थ्य-सुविधा और सुख की संरक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक लगते थे। अतः उन सब को एक दम अनाचार मानकर तिरस्कारपूर्ण भावना से देख लेना बिलकुल अनुचित है। इस पुस्तक के अन्त में उन चौंसठ अनाचारों की सामाजिक उपयोगिता और विशिष्टता के सम्बन्ध में भी विशद परिचय देने का प्रयत्न अवश्य किया जायगा। इसलिए उनके विषय में यहाँ अधिक चर्चा करना आवश्यक नहीं लगता है।

केरल में प्रचलित कई पुराने आचारों और विचारों से केरलीय जन-समूह में जाति-पाँति के भेद-भाव को इतर देशों की अपेक्षा प्रबल एवं सुदृढ़ मूल ज़रूर प्राप्त हुआ था, जिससे यहाँ के मानव-मानव के बीच में एक हद तक समन्वय और एकत्व की पवित्र भावना का अभाव-सा रह गया होगा। आधुनिक युग के क्रान्तिकारी नेता महात्मा गान्धीजी के विविध आन्दोलनों के फलस्वरूप केरलीय समाज में विद्यमान अनेकों भेद-भावों की अटूट और मजबूत दीवारें धीरे-धीरे तहसनहस हो चुकी हैं। आज के स्वतन्त्र-भारत के संविधान ने भी उन भेद-भावों के प्राचीरों को बिलकुल मिटियामेट कर डाला है।

हाँ, केरल के हिन्दुओं को छोड़कर बाकी धर्मों तथा जातियों के लोग अपने ही धर्म एवं जाति के ऐसे ही साधारण आचार-विचारों और रस्म-रिवाज़ों का ही पालन करते हैं, जो भारत के अन्य राज्यों के उन्हीं धर्मावलम्बी लोगों के रिवाज़ों तथा विश्वासों से बिलकुल भिन्न नहीं हैं। उनमें भी केरलीयता का प्रभाव यत्र-तत्र अवश्य पाया जा सकता है।

सभ्यता और वेश-भूषा

प्रत्येक देश की भौगोलिक स्थिति और आबोहवा का प्रभाव उस देश के अधिवासियों के रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान तथा सामान्य सभ्यता पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। केरल की पहाड़ी भूमि समुद्र के किनारे उष्ण मेखला में स्थित है। यहाँ हर साल अक्सर छः महीने बराबर पानी बरसता रहता है। इस देश में कभी पानी का अभाव या कमी नहीं होती। इसलिए यहाँ की उपजाऊ भूमि सदैव पेड़-पौधों से हरी-भरी रहती है। हर कहीं हरियाली दीखती है मानों प्रकृति-रमणी स्वयं हरे रंग की रेशमी किनारेदार सुन्दर साड़ी में आवेष्टित होकर सब को अपनी ओर आकर्षित कर रही हो। इस वैभवपूर्ण प्रकृति की सुखद गोद में विहार करनेवाले यहाँ के लोगों पर बदलती हुई ऋतुओं का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वे कभी कड़ी शीत या गर्मी के शिकार नहीं होते। इसलिए वे अपने को प्रकृति-माता के हरे आंचल में क्रीड़ा करनेवाले अबोध बालकों की भाँति अद्र्ध-नग्न रखने में कोई आपत्ति नहीं मानते हैं। इतना ही नहीं, केरल के स्वच्छ जल में सायं-प्रातः स्नान करके स्वयं सुन्दर और साफ़ रहना वे आवश्यक और अनिवार्य समझते हैं। इसी कारण केरल के

लोग अन्य देशों के लोगों की अपेक्षा स्नान-प्रिय, स्वच्छ एवं साफ़-सुथरे रहते हैं और अपने शरीर ढाँकने के लिए अधिक कपड़ों का उपयोग नहीं करते हैं। केरल के अधिवासी अपने साफ़-सुथरे, बे-सिले, सादे सफ़ेद वस्त्रों के लिए भारत भर में बहुत ही मशहूर हैं।

मुण्टु और तोर्त्तु

साधारणतः केरल के पुरुष लोग 'मुंट्टु' (धोती) और 'तोर्त्तु' (अंगोछा) मात्र पहनते हैं। 'मुंट्टु' चार साढे चार हाथ लम्बी और तीन हाथ चौड़ी होती है जिसे लोग नाभि के करीब लपेट कर पहनते हैं। उसका छोर लेकर लाँग नहीं लगाते हैं। 'तोर्त्तु' अँगोछा या तो अपने कंधे पर डालते हैं या ओढ़ लेते हैं। गरीब लोग 'मुंट्टु' के बदले अँगोछा या तोर्त्तु मात्र पहनते भी हैं। 'मुण्टु' और 'तोर्त्तु' प्रायः किनारे-दार शुभ्र वस्त्र ही होते हैं। रंगीन कपड़े केरलीय स्वच्छता के लिए अनुकूल और उपयुक्त नहीं माने जाते हैं। साधारणतः अँगोछा तीन साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच हाथ तक लंबा और ढाई या तीन हाथ चौड़ा होता है।

लोग मुण्टु और तोर्त्तु के अलावा कुर्त्ता पहनना भी आवश्यक मानने लगे हैं तो भी देहातियों तथा बूढ़े-बुजुर्गों में कुर्ते का अधिक प्रचार नहीं हुआ है। अंग्रेजों की नकल करनेवाले यहाँ के कई पढ़े-लिखे लोग उनकी पोशाक का भी विशेष आदर

करने में गर्व का अनुभव अवश्य करते हैं। लेकिन उनकी पोशाक का प्रचार देश में नहीं के बराबर है। स्वतंत्रता-संग्राम, स्वदेशी आन्दोलन तथा स्वराज्य-लाभ से यहाँ के लोगों की पोशाक में भी भारतीयता का प्रभाव ज़रूर पड़ा है और कुछ लोग उत्तर भारत के लोगों की तरह ढीला कुर्ता, पाजामा, लंबी धोती, शाल-दुशाला आदि पहनने लगे हैं। लेकिन टोपी या पगड़ी शायद ही कोई पहनता है। जूते या चप्पल ज़्यादा लोग नहीं पहनते। कई लोग खड़ाऊँ पहने बाग-बगीचों या खेतों में टहलकर खेती-बारी की निगरानी करते हैं। आजकल जूते-चप्पलों के इस्तेमाल करने की प्रथा भी शुरू हुई है।

केरल की स्त्रियाँ अकसर दो वस्त्र कमर से लपेट कर पहनती हैं। पहले एक-छः हाथ लंबा और ढाई या तीन हाथ चौड़ा कपड़ा कमर से लपेट कर उसके एक छोर को कसकर लाँग लगाती हैं। फिर उसके ऊपर से एक दूसरी किनारीदार धोती जो पुरुषों की मुण्टु के बराबर चार या साढ़े चार हाथ लंबी और तीन हाथ चौड़ी होती है, पहन लेती हैं। पुराने ज़माने में पुरुष की तरह स्त्रियाँ भी नाभि के ऊपर के शरीर को खुला रखती थीं या एक अँगोछे मात्र से ढका करती थीं। लेकिन इस रीति को अधुनिक यूग की स्त्रियाँ बिलकुल असभ्य समझकर छोड़ चुकी हैं। आज प्रायः सभी स्त्रियाँ कुर्ते-चोलियाँ पहनकर ऊपर से अँगोछा भी ओढ़ लेती है। इसके अलावा

अब स्त्रियों में मुण्टु और अँगोछे के स्थान पर साड़ी पहनने की प्रथा भी खूब प्रचलित हो गयी है। पहले यहाँ की स्त्रियाँ केवल सफ़ेद रंग के धुले कपड़े मात्र पहना करती थीं, लेकिन अब रंगीन साड़ियों का आकर्षण भी अधिक हो गया है। साड़ियों के प्रचार से केरल की स्त्रियों के समाज में भी रंगों की बहार आ गयी है। यहाँ की स्त्रियाँ अपने केरलीय पहनावे में भी राष्ट्रीयता और भारतीयता का एक सामान्य रूप लाने की अपनी साधना में अग्रसर हो रही हैं। लेकिन यह सच है कि कुछ पुराने विचार की बूढ़ी स्त्रियाँ पहले ही तरह आज भी दो कपड़े मात्र पहनती हैं और अपनी छाती कभी ढाँकती नहीं हैं। ईसाई और मुसलमान स्त्री-पुरुषों के पहनावे में कुछ विचित्रता और केरलीयता भी दीख पड़ती है।

चोटी बढ़ाने की प्रथा

केरल राज्य में स्त्रियों की भाँति पुरुष भी पहले केश बढ़ाया करते थे। वे अपने सिर के बाल या चोटी काटना अधर्म मानते थे। वे अपनी चोटी सामने की ओर बढ़ाकर एक विचित्र प्रकार से बाँधा करते थे जो देखने में साँप के फन की तरह लगती थी। कई विद्वानों का कहना है कि इस तरह चोटी बाँधने की रीति यहाँ के लोगों की 'नाग-पूजा' की प्रथा की वजह से प्रचलित हुई है। लेकिन आजकल बहुत कम लोग ऐसी चोटी रखते हैं। पुरुषों की चोटी का वह

पुराना रूप, इस समय के कुछ बूढ़े लकीर के फकीर लोगों में ही हम पा सकते हैं।

यहाँ की स्त्रियों में केश बढ़ाकर बाँधने, सँवारने और गूंथने की कई कलापूर्ण रीतियाँ प्रचलित हैं। केरल की स्त्रियाँ रोज़ तेल मलकर तथा नहा-धोकर अपने सिर के बालों को साफ रखती हैं जिससे उनके केश खूब लंबे व घने होते हैं और भारत के अन्य प्रान्तों की नारियों के लिए बहुधा ईर्ष्या का कारण बन जाते हैं। पुराने ज़माने में यहाँ स्त्रियाँ अपने लंबे बालों को सँवारकर सिर के ऊपर एक तरफ़ हटाकर इस तरह बाँधती थीं कि वह जूड़ा एक छोटे पंखे के से आकार का लगता था। आज भी कुम्हार जैसी निम्न जाति की स्त्रियाँ सिर के उपर ही की तरफ अपना जूड़ा बाँधती हैं। लेकिन अधिकांश रमणियाँ अब पीछे की तरफ़ ही अपना जूड़ा बाँधती हैं और सुन्दर सुगन्धित फूलों से उसे सजाती हैं।

गहने वगैरह

प्राचीन काल में केरल के स्त्री-पुरुष विविध प्रकार के सोने-चांदी के गहने पहना करते थे। पुरुषों के मुख्य गहने "कटुक्कन", "माला", "कंकण" और "मोतिरम्" थे। कानों में पहनने के सोने के आभूषण को "कटुक्कन" कहते हैं जो आकार में प्रायः बहुत छोटे होते हैं। वे कई प्रकार के होते हैं। दो-दो अँगूठियों की तरह लगनेवाले "कटुक्कन" अत्यन्त

पुराने समय के माने जाते हैं जिन्हें आज भी "सोमयातिरी" नामक कुछ यज्ञकर्ता नम्पूतिरी ब्राह्मण अपने धार्मिक गौरव के निशान के रूप में पहनते हैं। "कट्टुक्कनों" में हीरा, पुष्पराग, मरकत आदि बहुमूल्य रत्न भी जड़े रहते हैं। "कुंडल" प्राचीन काल का राजकीय कर्णाभूषण माना जाता है। आज यद्यपि बहुत कम लोग "कट्टुक्कन" पहनते हैं तो भी उसकी पूरी उपेक्षा यहाँ के पुरुषों ने नहीं की है। कई बूढ़े और जवान पुरुष इस समय भी "कट्टुक्कन" पहनते हैं।

गले में पुरुष भी पहले सोने की "माला" पहना करते थे। लेकिन इस समय उसका प्रचार नहीं के बराबर है। "पुलिनख" (व्याघ्र नख) माला नामक एक मशहूर गहना है जो छोटे बालकों के गले में पहनाया जाता है। कंकण हाथों में पहनने के कडे होते हैं। यहाँ के राजा लोग पहले "कंकण" और "बालिबन्ध" (कुहनी के ऊपर बाहु में पहनने का भूषण) पहना करते थे। लेकिन अब पुरुषों में शायद ही कोई कंकण पहनता है। आज तो रिस्ट वाच याने कलाई की घड़ी का युग है। अँगूठी को "मोतिरम्" कहते हैं। "मोतिरम्" पहनने का रिवाज इस समय भी जारी है। शादी के वक़्त वर और वधू दोनों एक-दूसरे को मोतिरम् पहनाना निहायत जरूरी समझते हैं। यहाँ के कई पुरुष अपने दोनों हाथों की अनामिका और कनिष्ठिका उँगलियों में अँगूठियाँ पहना करते हैं।

यहाँ की स्त्रियाँ कई प्रकार के गहनों से अपने शरीर को सजाया करती हैं। पुराने ज़माने की स्त्रियों के कर्णभूषण का नाम "तोटा" या "तक्का" है जो बहुत बड़े होते हैं। इसलिए उनको पहनने के लिए स्त्रियाँ बचपन से ही अपने कानों के निचले छोर को छेदकर सुराख बना लेती थीं और कठिन पीड़ा झेलकर उसे काफ़ी बढ़ाया करती थीं जिससे 'उनके विचित्र तरौने (तरकियाँ) कंधों तक लटक जाते थे। यहाँ की मुसलिम और ईसाई स्त्रियाँ कानों के ऊपरी हिस्से पर भी छेद बनाकर कड़े के आकारवाले विचित्र एवं बड़े गहने पहनती हैं जो बराबर झूमते रहते हैं। लेकिन आज "तक्का" या "तोटा" आदि पुराने गहनों की तरफ़ स्त्रियों का मोह कम हो गया है। वे नये फ़ैशन के अनुसार "कम्मल", "बाली", "स्टड्ड" आदि जड़ाऊ गहने पहनने लगी हैं।

गले में पहनने के लिए "पतक्कम", "ताली" आदि कई प्रकार के केरलीय गहने मिलते हैं। "पतक्कम" एक तरह का रत्न-जड़ित कण्ठ-भूषण है। "नागफण-ताली", "पू-ताली" आदि "ताली-माला" के विविध प्रकार हैं। "मोतिरम्" (अँगूठी) प्रायः सभी स्त्रियाँ अपनी उँगलियों में पहनती हैं। पाँव के गहनों में "तण्टा", "चिलम्पु" (नुपुर), "पादस्वर" आदि सोने या चाँदी के आभूषण विशेष मुख्य हैं। आजकल की युवतियाँ आधुनिक सिनेमा-तारों की वेश-भूषा की नकलें भी

प्रायः किया करती हैं और कई नये ढंग के गहने बनवा लेती हैं जिनका परिचय देना यहाँ आवश्यक नहीं प्रतीत होता है।

नम्पूतिरी स्त्रियों को छोड़कर केरल की किसी भी जाति की स्त्रियों में कभी पर्दे का रिवाज नहीं था। वे स्वतन्त्रतापूर्वक पुरुषों से मिल-जुलकर रह सकती हैं। लेकिन नम्पूतिरी स्त्रियाँ जब बाहर निकलती थीं तब कंधे के ऊपर तक अपने सारे शरीर को एक लंबी सफ़ेद चादर से लपेट लेती थीं और ताड़ के पत्ते का बना देशी छाता सिर के ऊपर तानकर उसीमें अपने तन को छुपा लेती थीं। छाता पर्दे का-सा काम देता था। अभी पन्द्रह-बीस साल पहले तक छाते के बिना नम्पूतिरी स्त्रियों का बाहर निकलना बिलकुल अनुचित समझा जाता था। इसलिए जब दो-तीन नम्पूतिरी रमणियाँ सड़क पर एक साथ चलती थीं, तब चलता-फिरता एक छप्पर जैसा दृश्य नज़र आता था। नम्पूतिरी स्त्रियों के प्राचीन काल के आभूषण भी अन्य स्त्रियों से बिलकुल भिन्न थे। अमीर से अमीर नम्पूतिरी वधुएँ भी हाथों में पीतल या काँसे के आठ-दस कड़े पहनती थीं जिससे उनकी कलाइयों में उन कड़ों के जंग या मैल के कारण हरे रंग की अमिट लकीरें अंकित रहती थीं। कोई भी सुहागिन औरत इन चूड़ियों को छोड़ नहीं सकती थी। गले में सूत की डोरी में पिरोयी हुई "ताली माला" पहनना भी उनके लिए अनिवार्य था जो उनका सौभाग्य-चिह्न माना जाता था। अब समाज-सुधारकों ने इन प्रथाओं को करीब बन्द कर डाला है। कहा

जाता है कि नम्पूतिरी स्त्रियों से "पातिव्रत्य" के कठोर नियम का पालन कराने के लिए ये प्रथाएँ चलायी गयी थीं। इसलिए अब भी उनमें से कुछ कुलीन स्त्रियों को छाते के अन्दर "पर्दे की बीबी" (अंतर्जनम) बनी रहना अनिवार्य माना जाता है। लेकिन अब वास्तव में जागृत नारियों की तरफ़ से इन पुरानी प्रथाओं की उपेक्षा ज़्यादा ज़ोरों से हो रही है।

छतरी की प्रधानता

केरल के निवासियों की वेश-भूषा का परिचय देते समय एक साधारण-सी बात का भी उल्लेख करना ज़रूरी प्रतीत होता है। यहाँ के प्रायः सभी लोग चाहे स्त्रियाँ हों या पुरुष, बच्चे हों या बूढ़े, छतरी के बिना चलते-फिरते नहीं नज़र आते। पुराने समय के लोग साधारणतः ताड़ के पत्ते के छाते पहने नज़र आते थे। अब प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में काले रंग के कपड़े की एक छोटी या बड़ी छतरी अकसर पायी जाती है। इसलिए यहाँ छतिरियों का इतना अधिक प्रचार देखकर इस देश को भारत के अन्य प्रान्तों के लोग "छतरियों का देश" भी कहा करते हैं। वास्तव में वर्षा की अधिकता और धूप की कड़ाई की वजह से ही केरल में प्रायः सभी लोग, चाहे वे स्त्रियाँ हों या पुरुष अवश्य "छत्र-धारी" होते हैं।

खान-पान की विशेषता

केरल के उपजाऊ खेतों में धान बहुत पैदा होता है। अतः यहाँ के लोग ज़्यादा चावल या भात ही खाते हैं। गेहूँ बहुत कम लोग खाते हैं। यहाँ नदी, झीलों और तालाबों में मछलियाँ खूब पायी जाती हैं। इसलिए मछली भी अधिकांश लोगों का मुख्य खाना है। लोग भात के साथ कई तरह की स्वादिष्ट तरकारियाँ तथा शाक-भाजियाँ लेते हैं। नारियल की गरी और नारियल के तेल से व्यंजन यहाँ के लोग बहुत पसन्द करते हैं।

खाद्य के व्यंजन

साधारणत: भोजन के लिये यहाँ के लोग "कालन्", "ओलन्", "आवियल्", "साम्बार", "कूट्टुकरी", "एरिश्शेरी" आदि कई प्रकार के व्यंजन बनाते हैं। ये सभी चीजें अपने ढंग की निराली होती हैं। इनके बनाने के तरीके भी अलग-अलग हैं। केरल नारियल की भूमि है। अत: केरलीय व्यंजनों में नारियल का अनिवार्य योग रहता है। उबाले हुए खट्टे दही के साथ नमक, काली मिर्च, नारियल आदि अच्छी तरह पीसकर मिला देते हैं और केले तथा ज़मींकंद

के छोटे टुकड़ों के साथ पकाकर "कालन्" बनाते हैं जो "कढ़ी" जैसा होता है। "कालन्" का महत्व उसके अधिक से अधिक गाढ़ा होने में माना जाता है। कुम्हड़ा, बैंगन, कद्दू, आलू आदि के छोटे-छोटे टुकड़ों को पानी में डालकर उबाल लेने के बाद उसमें नमक और नारियल का दूध मिलाकर "ओलन्" बनाते हैं। हरी मिर्च के टुकड़े तथा नारियल का तेल भी उसमें डालते हैं। "ओलन्" का नया रूप आजकल आलू मात्र से बने "स्टू" नामक व्यंजन से मिलता है। "अवियल्" एक ऐसा व्यंजन है जो आम या इमली तथा नमक और मिर्च के साथ केला, जमींकंद, कुम्हड़ा, बैंगन आदि सभी प्रकार की तरकारियों के टुकड़े मिलाकर बनाया जाता है। नारियल के दूध और गरी का "आवियल्" में विशेष स्थान है। "साम्बार" में इमली, नमक और मिर्च के साथ अन्य तरकारियों की अपेक्षा भिण्डी, आलू, बैंगन आदि की अधिकता रहती है। दाल के बिना साम्बार बनाना संभव नहीं है। इसमें नारियल नहीं मिलाया जाता है। कूट्टुकरी या "कूट्टु" "अवियल्" के ढंग का ही एक दूसरा व्यंजन है। "अवियल्" में इमली का होना जरूरी है। "कूट्टु" में इमली कभी नहीं डालते, यही इन दोनों में मुख्य भेद है। "कूट्टु" और "एरिश्शेरी" में भी थोड़ा ही फरक है। दोनों में नारियल की गरी के महीन टुकड़े भूनकर डालते हैं। इनके अलावा "पच्चड़ी", "खिचड़ी", "रसम्" आदि भी कई व्यंजनों के नाम उल्लेखनीय हैं।

पायसम्

मीठे-मीठे "प्रथमन्" या "पायसम्" और "खीर" का स्थान केरलीय भोजों में सर्वप्रथम माना जाता है। इसलिए उनको "प्रथमन्" नाम दिया गया है। "अट-प्रथमन्", "पष्प्रथमन्", "कटल-प्रथमन्" आदि कितने ही प्रकार के प्रथमन् और पायसम् बनाये जाते हैं। चना, गेहूँ, मूँग, पक्के केले, कटहल आदि के अलग-अलग "प्रथमन्" बनाते हैं। सब प्रथमनों मे गुड़ और नारियल का दूध अवश्य मिलाते हैं।

"पाल्पायसम्" या "खीर" चावल, चीनी और दूध मात्र से बनाते हैं। बड़े-बड़े भोजों मे चार-पाँच प्रथमन् और पाल् पायसम् अवश्य होते हैं। मामूली भोज में कम से कम एक प्रथमन् या पायसम् का होना अनिवार्य समझा जाता है।

अचार और उपदंश

यहाँ के लोग भोज के या नित्य के मामूली भोजन के अन्त में भात के साथ दही या मट्ठा मिलाकर खाना आवश्यक समझते हैं। उस समय अचारों को चखने में वे विशेष रुचि दिखाते हैं। इसलिए नींबू, आँवला, आम, कटहल आदि के कई प्रकार के अचार बनाते हैं। इमली और अदरख या दही-और अदरख की चटनी और अचार का विशेष महत्त्व माना जाता है। पापड़ यहाँ के लोगों को बहुत ही प्रिय है। बड़े-बड़े भोजों में वृत्ताकार छोटे और बड़े दोनों प्रकार के पापड़ अलग-

अलग परोसना प्रतिष्ठा को प्रदर्शित करने के लिए आवश्यक समझा जाता है। बिना पापड़ के नित्य का भोजन भी यहाँ के लोगों को फीका लगता है। अतः यहाँ के "कोंकिणी" और "पंडारन" जाति के लोग पापड़ बेलने के एकमात्र पेशे से अपनी आजीविका चलाने में कोई कठिनाई नहीं पाते। इतना ही नहीं, उनमें कई लोग पापड़ के देश-विदेशी व्यापार से खूब मालामाल भी हो गये हैं।

केरलीय भोजन में केले के भुने हुए सादे और गुड़-मिश्रित टुकड़े जिनको "उप्पेरी" या "उपदंश" कहते हैं, बहुत मुख्य है। उप्पेरी ज़मीकंद, कटहल आदि के टुकड़ों से भी बनाते हैं। "उप्पेरी" नारियल के तेल में भूनकर ही तैयार करते हैं। घी या अन्य प्रकार का तेल इसके लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता है।

यहाँ के लोग ज़मीन या फर्श पर छोटे तख्ते या चटाइयाँ बिछाकर उसपर पालथी मारकर बैठकर और अकसर केले के लम्बे मुलायम हरे पत्तों पर खाना परोसकर खाते हैं। भोजन के वक़्त कुर्सी पर बैठकर मेज़ पर थालियों में चीज़ें परोस कर खाने का रिवाज़ यहाँ बहुत कम लोगों में पाया जाता है। यद्यपि आजकल कई घरों में केले के पत्तों की जगह थालियों का उपयोग भी करने लगे हैं, तो भी विवाह, श्राद्ध आदि सब प्रकार के त्योहारों के अवसरों पर केले के पत्तों पर ही भोजन परोसा जाता है।

नाश्ता

सबेरे तथा अन्य आवश्यक समय के नाश्ते या जलपान के लिए लोग "पुट्टु" "इडली", "दोशा", "वडा", "अप्पम", "अटा" आदि कई प्रकार के पकवान और मिठाइयाँ बनाया करते हैं। उनके चखने से कोई भी आदमी केरलीय पाक-कला की सफलता और विशेषता की मुक्त-कंठ से प्रशंसा किये बिना नहीं रहेगा। यद्यपि आधुनिक ज़माने के प्रायः सभी लोग नाश्ते के साथ "चाय" या "काफी" पीते हैं तो भी पहले लोग सबेरे भात से पानी अलग किये बिना "कंजी" के रूप में उसे तरकारियों और पापड़ के साथ खाना ही पसंद करते थे। "कंजी" पीने का रिवाज इस वक़्त भी कई घरों में पूर्ववत् जारी है। अकसर गरीब लोग "कंजी" को ही अपना मुख्य भोजन मानते हैं।

यहाँ के लोग गर्मी के दिनों में कच्चे नारियल या डाभ का मीठा ठंडा रस पीते हैं। "संभारम्" और "पानकम्" भी यहाँ के मुख्य पानीय हैं। मट्ठा मिले हुए हल्के "खट्टे" पानी को जिसमें कभी नमक और हरी मिर्च भी डालते हैं, "संभारम्" कहते हैं। "पानकम्" मीठा रहता है। पानी में गुड़ घोलकर उबालते हैं और ठंडा करके थोड़ा-सा सोंठ का चूर्ण मिलाते हैं, तब पानकम् तैयार होता है। गर्मी के दिनों में मुसाफिरों यथा अतिथियों को "संभारम्" और "पानकम्" पिलाने की व्यवस्था आज भी कई प्रतिष्ठित खानदानों की तरफ़

से अवश्य की जाती है। पानी में सोंठ, इलायची, जीरा आदि का चूर्ण डालकर उबाल लेते हैं और उसी को पीने के काम में लाते हैं जिसको "चुक्कुवॆळ्ळम्" (सोंठ का पानी) कहते हैं। यहाँ के लोग ठंडे पानी के बदले उसीको पीना बहुत पसंद करते हैं।

पान-सुपारी

भारत के अन्य प्रान्तों की तरह यहाँ के लोग भी भोजन के बाद तुरन्त पान-सुपारी खाने का नियम रखते हैं। तम्बाकू भी कई लोग पान-सुपारी के साथ चबाते हैं।

ब्राह्मण क्षत्रिय आदि कुछ शाकाहारी लोगों के अलावा यहाँ मांसाहार करनेवाले लोगों की संख्या काफ़ी बड़ी है। वे मछली, गोश्त, अंडे आदि के विविध व्यंजन बनाकर खाया करते हैं। केरलीय ढंग से मांस और मछली के कई स्वादिष्ट व्यंजन बनाने की कला यहाँ के मुसलमान और ईसाई परिवारों के रसोइया लोग जानते हैं, अतः वे केरल के बाहर जाकर भी अच्छे "बावर्ची" बनते हैं और खूब कमाते हैं।

पर्व और त्योहार

किसी छोटे या बड़े देश के त्योहार वहाँ के अलिखित प्राचीन इतिहास की विगत घटनाओं के परम्परा से प्रचलित एवं क्रियाशील जीते-जागते स्मृति-चिह्न या प्रमाण हैं। प्रत्येक देश या गाँव के ऐसे कई स्थानीय तथा देशीय त्योहार अवश्य होते हैं, जिनको मनाने में वहाँ की प्रजा इस नवीन युग में भी बड़ा उत्साह प्रकट करती है। उन मुख्य-मुख्य त्योहारों का विशेष अध्ययन करने से हम उस देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के विकास का बहुत कुछ परिचय पा सकेंगे। प्रायः सभी त्योहारों के विषय में कई मनोरंजक कहानियाँ भी मिलती हैं।

केरल के लोग जन्माष्टमी (श्रीकृष्ण जयन्ती), विजय-दशमी (दशहरा), दीपावली आदि पौराणिक एवं अखिल भारतीय त्योहारों के अलावा कुछ खास प्रकार के स्थानीय त्योहार भी मनाते हैं। अतः यहाँ सिर्फ कुछ ऐसे मुख्य देशीय त्योहारों का संक्षेप में परिचय देना मात्र पर्याप्त होता है। उनमें सबसे प्रधान "ओणम्", "तिरुवातिरा" और "विषु" है।

ओणम

केरल के प्रादेशिक त्योहारों में सबसे मुख्य "ओणम्" त्योहार है। यह त्योहार प्रायः प्रतिवर्ष सितंबर मास के दूसरे

या तीसरे सप्ताह में शुक्ल पक्ष के श्रवण (तिरुवोणम्) नक्षत्र के दिन पड़ता है। कभी-कभी उसी दिन पूर्णिमा का शुभ दिन भी होता है। हर साल शरद् ऋतु के धवल मेघों के बीच हीरे की भाँति चमकनेवाले सूरज की स्वर्ण किरणों से आलोकित दिनों तथा पूर्णिमा के चाँद की स्निग्ध शीतल चाँदिनी में डूबी रातों की सुन्दरता से प्रभावित होकर यहाँ के लोग जाति-भेद की परवाह किये बिना "ओणम्" का त्योहार मनाने में पूरी तरह से तत्पर दिखाई देते हैं। पुराने समय के केरल की संपन्न एवं सुखपूर्ण परिस्थितियों का परिचय देनेवाले प्राचीन त्योहार के रूप में "ओणम्" को लोग पूरे वैभव के साथ मनाना आज भी आवश्यक समझते हैं।

इस त्योहार के विषय में कई दन्तकथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें एक का यहाँ संक्षेप में परिचय देना अनुचित न होगा। कहा जाता है कि पुराने समय में दानव राजा "महाबलि" सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतकर उसपर स्वयं शासन करते थे। उन दिनों स्वर्ग के देव पराजित हुए और सभी लोग उनकी अवहेलना करने लगे। महाबलि के सुखप्रद सुशासन से संतुष्ट होकर प्रजा देवों को भूलने और दानवों की महीमा गाने लगी। इससे दुःखी होकर देवों ने भगवान् विष्णु से पूर्ववत् उनकी प्रतिष्ठा को बचाये रखने की प्रार्थना की। इसपर भगवान् ने "वामन" का अवतार लिया और महाबलि को धोखा देकर सारी पृथ्वी उनसे दान में पायी। आखिर महाबलि के पास पृथ्वी में कहीं

अपनी कोई जगह न बची। इसलिए उन्हें पाताल में जाकर रहना पड़ा। भगवान् वामन ने उन्हें साल में एक बार पाताल से भूमि पर आकर यहाँ के लोगों की स्थिति देख जाने की अनुमति प्रदान की थी। माना जाता है कि उसके अनुसार महाबलि "ओणम्" के दिन केरल आते हैं और अपने इस पुराने देश की प्रजा के सुखपूर्ण जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव पाकर प्रसन्न हो वापस चले जाते हैं। इसी कारण से यहाँ के लोग अपने पुराने प्रजावत्सल सम्राट महाबलि के स्वागत-सत्कार के रूप में "ओणम्" त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। वे अपने पुराने महान् शासक को यह समझाना चाहते हैं कि यहाँ प्रजा पूर्ववत् सुखी और संतुष्ट है। यहाँ के लोगों का विश्वास है कि महाबलि के पधारते समय उनके सामने अपने जीवन में सुख का अभाव और दुःख का अनुभव दिखाना अनुचित होगा, क्योंकि उनके प्रिय राजा यहाँ से पाताल लौटकर यहाँ के लोगों की चिन्ता में सदैव व्याकुल रहेंगे। इसलिए, लोगों में यह कहावत प्रचलित है कि 'काणम् विट्टुम् ओणम् उण्णणम्' यानी जमीन बेचकर भी ओणम् के दिन पेट भर खाना चाहिए।

ओणम् के विषय में यह भी कहा जाता है कि इस त्योहार का आरंभ "वामनावतार" से हुआ है और लोग भगवान् वामन के स्मरण में ही यह त्योहार मनाया करते हैं। उस दिन प्रत्येक घर में "ओणत्तप्पन" या "तृक्काक्करप्पन" के नाम से वामन

की पूजा-अर्चना की जाती है, इसका विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है।

ओणम् आनन्द और उत्साह का वैभवपूर्ण त्योहार है। यह त्योहार वास्तव में ओणम् के दस दिन पहले से ही मनाया जाता है। ओणम् की खुशियाँ सचमुच अत्तम (अस्था) नक्षत्र के दिन से प्रारंभ होती है। प्रायः सभी मलयाली घरों के लड़के व लड़कियाँ हिल मिलकर उस दिन से खुशी मनाते हुए बाग-बगीचों तथा झाड़ी-पहाड़ियों में घूम-फिरकर कई प्रकार के रंग-बिरंगे फूल तोड़ लाते हैं। फिर सबेरे वे अपने घर के आँगन को गोबर से लीपकर उन फूलों को सजाते हैं। घर के दरवाज़े के आगे के आँगन में उन रंग-बिरंगे फूलों की कई वृत्ताकार पंक्तियों की व्यवस्था ऐसी सुहावनी लगती है मानो शरद् की उजली चाँदनी में खिलते हुए उपवन की बिखरी हुई समूची हँसी को वहाँ एकत्र किया गया हो। दस दिनों तक यों फूलों से आँगन सजाने का खेल खेलने के बाद "तिरुवोणम्" के दिन भोर होते ही मिट्टी की बनी भगवान् वामन की मूर्तियाँ, जिन को "तृक्काक्करप्पन" कहते हैं, आँगन में फूलों की वृत्ताकर रेखाओं के बीच प्रतिष्ठित करते हैं। "आरप्पु" की मंगल ध्वनि के साथ उन मूर्तियों का स्वागत किया जाता है, और मिठाइयों और फलों का नैवेद्य चढ़ाकर पूजा की जाती है। (आरप्पु उस ऊँची हर्ष-ध्वनि को कहते हैं जो पुरुष अपने मुँह से एक साथ मिलकर निकालते हैं।) ओणम् के दिन से चार दिन तक "तृक्काक्करप्पन"

की पूजा होती है। इस त्योहार में धार्मिक अनुष्ठान का यही मुख्य रूप है। इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा करते समय घर के सभी लोग नहा-धोकर नये कपड़े पहनते हैं और हाथ जोड़े खड़े रहते हैं।

भक्ति के बाद भुक्ति का कार्यक्रम है। अतः ओणम् के दिन घर के सभी लोगों को बड़ा भारी भोज दिया जाता है। केरल के घरों में ओणम् के दिन का भोज ही सबसे बढ़िया होता है, जिसमें भात के साथ तमाम प्रकार के व्यंजन, अचार उपदंश (चाट), पापड़, फल, प्रथमन, खीर, पक्के केले के पकाये हुए टुकड़ें (पळन्नुरुक्कु) आदि का होना अनिवार्य माना जाता है। उस दिन शायद ही किसी घर में लोग मांस या मछली खाते हैं। राजा से लेकर रंक तक सभी श्रेणी के लोग ओणम् के दिन अपने यहाँ किसी न किसी तरह एक विशेष भोज का प्रबन्ध अवश्य करते हैं। अतः उस दिन कोई किसी दूसरे के यहाँ जाकर भोजन करना नहीं चाहता और अपने यहाँ बढ़िया भोजन बनाये बिना भी नहीं रहता।

वास्तव में 'ओणम्' त्योहार केरल की अच्छी फसल के काटने की खुशी का त्योहार कहा जा सकता है। यह उसी समय मनाया जाता है जब कि आषाढ़ के अन्त तक की मूसलाधार वर्षा के बाद केरल की शस्य-श्यामला धरणी शरद्-ऋतु की उजली धूप में हँसने लगती है और अनाज एवं फलों से

तथा शाक-तरकारियों से भरी गोद में अपनी प्रिय मानव संतानों की स्नेह-शुश्रूषा करने लगती है।

'ओणम्' एक ऐसा त्योहार है जिसमें केरल के प्राचीन तथा आधुनिक काल के पारिवारिक और सामाजिक जीवन के आधारभूत स्नेह तथा सौहार्द की खूब अभिव्यक्ति होती है। परिवार के प्रायः सभी प्रवासी ओणम् के दिन, जहाँ तक हो सके, अपने घर अवश्य एकत्रित होते हैं। साल भर वे भले ही दूर रहें, तो भी ओणम् के दिन अपने घर आना अनिवार्य समझते हैं। अगर कोई घर नहीं आ पाता तो वह एक प्रकार से अपराधी माना जाता है। उस दिन घर के बड़े-बूढ़े "कारणवर" या "मामाजी" आजकल पिता या बड़े भाई भी, अपने भानजे-बेटों तथा भानजी-बेटियों को "ओणप्पुटवा" (ओणम् के दिन उपहार में दिये जानेवाले कपड़े) देते हैं। नौकर-चाकर तथा अन्य आश्रित लोगों को भी "ओणप्पुटवा" देना अनिवार्य माना जाता है। "कुटियान" (आसामी) अपने जमींदार के लिए "ओणक्काष्च्चा" (केले, कद्दू, जिमीकंद, ककड़ी आदि फल-तरकारियों की भेंट) देते हैं। उसके उपलक्ष्य में उनको ओणम् के बाद के तीन दिनों में किसी एक दिन बढ़िया भोज और 'ओणप्पुटवा' देना जमींदार का भी कर्तव्य माना जाता है। इस प्रकार "ओणक्काष्च्चा" और "ओणप्पुटवा" की यह प्रथा यहाँ के लोगों के पारस्परिक सहयोग और सौहार्द का परिचय देती है।

ओणम् के दस-पन्द्रह दिनों में लोग अनेक प्रकार के खेल खेला करते हैं। प्राय: उन दिनों स्कूल-दफ़्तर बंद रहते हैं और खेलने के लिए सबको लंबी छुट्टी मिलती है। ओणम् के खेलों में गेंद का खेल सबसे मुख्य है। केरल में एक खास प्रकार का गेंद-खेल प्रचलित है जिसे "नाटन पन्तुकलि" (देशीय गेंद-खेल) कहते हैं। यही खेल ओणम् के दिनों में अधिक खेला जाता है। इसके अलावा "किलितट्टु" "कोन्तिकल्लि" आदि अनेक प्रकार के खेल भी लोग खेलते हैं। घरेलू खेलों में ताश, शतरंज, जुआ, पल्लान्कुषि, कल्लुकलि आदि मुख्य हैं। इनमें झूले डालकर मधुर गीतों के साथ झूमते रहने की एक मज़ेदार क्रीडा 'ऊञ्ञालाट्टम' का भी प्रचार कहीं कहीं है।

ओणम् के दिनों में प्राय: लड़कियाँ और युवतियाँ दोपहर के समय तथा रात में मिल-जुलकर गाती-नाचती हुई "कैकोट्टिक्कलिपाट्टु" नामक एक संगीतात्मक नृत्य करती हैं। इस नृत्य में गाये जानेवाले गीतों के ताल के अनुसार हाथ की ताली और पैरों का ताल देती हुई स्त्रियाँ वृत्ताकार में घेरा बनाये नाचा करती हैं। पहले एक स्त्री गीत का थोड़ा अंश गाती है। फिर सब स्त्रियाँ उसको दोहराती हुई एक साथ गाती हैं।

नदी या झील के किनारों पर रहनेवाले लोग ओणम् के दिन "वंचिक्कलि" (नौका-विहार) करते हैं। "वंचिक्कळि",

'ऊञ्ञालाट्टम' और "कैकोट्टिक्कळि" के उपयुक्त अच्छे-अच्छे गीत-काव्य मलयालम् साहित्य में यथेष्ट मिलते हैं। इनके अलावा ओणम् के महत्त्व को प्रकट करनेवाले पुराने गीत भी काफी मौजूद हैं जिनको "ओणप्पाट्टु" कहते हैं। 'वंचिप्पाट्टु' 'कैकोट्टिप्पाट्टु', 'ऊञ्ञालप्पाट्टु' और 'ओणप्पाट्टु' मलयालम् के लोकगीतों के चार मुख्य भेद हैं। ओणम् से 'ओणप्पाट्टु' का विशेष संबन्ध माना जाता है। उन गीतों में महाबलि के राज्य की तारीफ यों की गयी है—

"मावेली नाटु वाणीटुम् कालम
मानुषरेल्लारुमोन्नुपोले,
कळ्ळवुमिल्ला चतियुमिल्ला,
ऐळ्ळोळमिल्ला पोळि वचनम्"

भावार्थ—जब मावेली (महाबलि) राज करते थे, तब सब मनुष्य समान थे। चोरी-छल नहीं होता था और तिल भर भी झूठा वचन नहीं बोला जाता था।

आज हम भी ऐसे ही "सुराज्य" या सुख-राज्य के आदर्श को सामने रखकर अपने समाजवादी ढाँचे के स्वराज्य का निर्माण करने जा रहे हैं जहाँ—

"मानुषरेल्लारुमोन्नुपोले
बालमरणङ्ङळिल्लतानुम्
नेल्लिनु नूरु विळवुमुण्टे
नल्लवरल्लातेयिल्लपारिल्"

यानी सब मनुष्य समान सुखी हैं, बालमरण कहीं नहीं होता है। धान की सौगुनी फसल मिलती है और हर कहीं अच्छे आदमी ही नज़र आते हैं।

सचमुच ओणम् मलयालियों की खुशी और वैभव का त्योहार है जिसे आजकल केरल में ही नहीं, बल्कि जहाँ कहीं मलयाली लोग रहते हैं, वहाँ बड़ी धूम-धाम से मनाते हैं। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, दिल्ली, सिंगापुर, लन्दन, न्यूयार्क जैसे शहरों में रहनेवाले मलयाली लोग भी वहाँ ओणम् के दिन एकत्र होकर इस त्योहार को मनाने का यथासंभव प्रबन्ध करते हैं। इस वक्त ओणम् किसी जाति या धर्म के लोगों का त्योहार नहीं है, मगर एक केरलीय या मलयाली त्योहार के रूप में उसका पूर्वाधिक एवं विश्वव्यापक महत्व होने लगा है।

तिरुवातिरा

केरल का दूसरा मुख्य त्योहार "तिरुवातिरा" है। यह दिसम्बर महीने के शुक्ल-पक्ष में पूर्णिमा के दिन (क्रिसमस के करीब) "आर्द्रा" नक्षत्र पर पड़ता है। कहा जाता है कि पौषमास के आर्द्रा नक्षत्र के दिन देवी पार्वती की कठोर तपस्या से संतुष्ट होकर भगवान् शिवजी ने अपना नया जन्म लिया और उन्हें दर्शन देकर पूर्ववत् अपनी अर्धांगिनी बनाया। इसलिए अचल सौभाग्य के लिए केरल की स्त्रियाँ भी तिरुवातिरा का धार्मिक त्योहार मनाती हैं। वास्तव में यह देवियों का ही

त्योहार है जिसमें कुमारी और सुहागिनी स्त्रियों का स्थान विशेष रूप से प्रधान है।

देवियाँ तिरुवातिरा (आर्द्रा या आतिरा) के दस दिन पहले से व्रतनिष्ठ होकर त्योहार मनाती हैं। उन दिनों वे अपने हाथों में मेहँदी लगाती हैं। ब्राह्म मुहूर्त में उठकर तालाब या नदी के पानी में डुबकियाँ लगाकर स्नान करती हैं। स्नान के वक़्त कई स्त्रियाँ मिलकर ज़ोर से गाने लगती हैं और हाथों से पानी को उछालती हुई स्नान करती हैं। "तुटियुम कुलियुम" (पानी उछालना और स्नान करना) तिरुवातिरा के व्रत का अनिवार्य अंग है। फिर माथे पर हल्दी, कुंकुम, चंदन आदि के विविध मांगलिक तिलक लगाती हैं और दूर्वा, "मुक्कूट्टि" आदि दस प्रकार की घासों का गुच्छा 'दशपुष्प' केशों में धारण करती हैं। ये "दशपुष्प" केरल में बहुत ही मांगलिक माने जाते हैं और प्रत्येक शुभ अवसर पर धारण किये जाते हैं।

आतिरा के दिन शिव-पार्वती के मंदिर जाकर दर्शन करना भी (आर्द्रादर्शन) आवश्यक माना जाता है। स्त्रियाँ आतिरा की पिछली रात भर गाती-नाचती हुई (कैकोट्टिकळि) रतजगा करती हैं और उस दिन आधी रात के वक़्त एक खास पौधे का फूल जिसे "पातिराप्पूवु' या "निशीथ कुसुम" कहते हैं, सिर पर धारण करती हैं। प्रत्येक स्त्री को उस दिन एक सौ

एक (101) पान खा लेने का नियम पालन करना पड़ता है। झूले पर झूलना भी "आतिरा" के अनुष्ठानों में मुख्य माना जाता है। इसलिए तिरुवातिरा के कई दिन पहले से ही प्रत्येक घर के आँगन में तीन-चार झूले पड़े नज़र आते हैं। लड़कियाँ झूले पर झूलती हुई विविध प्रकार के मधुर गीत गाती हैं। ये झूला-गान (ऊँञ्ञालपाट्टु) भी केरलीय लोकगीतों में शामिल हैं। आर्द्रा के त्योहार में देवियाँ भात के बदले ज़्यादा कन्द-मूल और फल मात्र खाकर व्रत रखती हैं। कहा जाता है कि देवी पार्वती ने अपनी तपस्या से शिवजी को पति रूप में पाकर आर्द्रा की पिछली रात को उनके साथ जंगल में विविध क्रीड़ाएँ की थीं। उन्होंने चन्द्रिका-स्नात वन-वीथियों में अपने पति के संग घूमते हुए जंगली फूलों से अपने केशों को सजाया था, पान के पत्ते तोड़कर चबाये थे और झूले पर झूल कर विवाह किया था। उस दिन उन्होंने केवल कंद-मूल ही खाये थे। पार्वती के इस वन-विहार के अनुकरण पर "तिरुवातिरा" के व्रत का यह खास ढंग प्रचलित हुआ है।

आतिरा के दस दिन पहले से हर रोज़ संध्या से काफ़ी रात चढ़ने तक स्त्रियाँ "तिरुवातिरा कळि" (कैकोट्टिकळि भी कहते हैं) का संगीतात्मक नृत्य करती हैं। इसका नाम "तिरुवातिराकळि" इसलिए पड़ा कि यह विशेष रूप से इन्हीं दिनों खेलने के लिए रचा गया संगीत और नृत्य है। तिरुवातिरा के दिनों संध्या के समय प्रत्येक घर से निकलनेवाले 'वाक्कुला'

और 'तिरुवातिराप्पाट्टु' (गीत) विदेशी यात्रियों को भी इसकी सूचना देते हैं कि तिरुवातिरा का त्योहार आ गया है। 'वाक्किला' उस ऊँची आवाज़ को कहते हैं जो केरलीय स्त्रियाँ अपने मुँह से निकालती हैं। पुरुषों के 'आरप्पु' की तरह स्त्रियों की 'वाक्किला' भी एक मंगल ध्वनि है। केरल में शादी, पुत्र-जन्म आदि सभी शुभ अवसरों पर प्रत्येक घर से 'आरप्पु' और 'वाक्किला' या 'कुरवा' की विचित्र गूँज सुन पड़ती है। यह केरल की एक साधारण मंगलमय प्रथा है।

तिरुवातिरा कलापूर्ण और धार्मिक त्योहारों में गिना जाता है। उस अवसर पर लड़की-युवतियों की नृत्य-कला और गान-कला का प्रदर्शन होता है। इस त्योहार पर स्त्रियों का एकाधिपत्य है। इसमें पुरुषों का कर्त्तव्य इतना ही है कि वे स्त्रियों के व्रत के लिए आवश्यक कंद-मूल और फल-तरकारियाँ जुटा दें। केरल की पुरानी कौटुम्बिक प्रथा में यह विचित्र नियम पाया जाता है कि साल भर अपनी पत्नी-संतानों को खिलाने-पिलाने की जिम्मेदारी से मुक्त रहनेवाले पति से यह माँग की जाती है कि वह तिरुवातिरा के नोयम्बु (व्रत) के लिए जरूरी सामग्रियाँ अपनी पत्नी और बेटियों को खरीद कर ला दे। जो पति इस एकमात्र कर्तव्य से भी मुँह मोड़ लेता था, वह बड़ा ही कापुरुष और निकम्मा माना जाता था।

"ओणम्" की तरह "तिरुवातिरा" के विषय में भी कई लोक-गीत प्रचलित हैं। उनमें से एक प्रसिद्ध गीत का नमूना आगे दिया जाता है। यह गीत स्त्रियाँ सबेरे स्नान करते समय गाया करती हैं।

"धनुमासत्तिले तिरुवातिरा
भगवान्टे तिरुनाळल्लो
उण्णरुते उरङ्ङरुते
आटणम्पोल् पाटणम्पोल्
तुटिक्कणम्पोल् कुळिक्कणम्पोल।"

अर्थात्—पौष मास की तिरुवातिरा भगवान् का जन्मदिन है और भगवती का महाव्रत है। इसलिये अन्न मत खाओ और सोओ मत। नाचो, गाओ, पानी उछालो और डुबकियाँ लगाओ।

विषु

मलयालियों के प्रसिद्ध त्योहारों में विषु का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। मलयालम् महीनों में 'मेटम' (चैत्र) की पहली तारीख़ (अप्रैल 14 या 15) को यहाँ के लोग विषु मनाते हैं। यह एक प्रकार से 'बच्चों का त्योहार' भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें बच्चों की तरफ़ ज़्यादा ध्यान दिया जाता है।

"विषु" के दिन सबेरे आँख खोलते ही सब लोग पहले-पहल "कणि" के दर्शन करते हैं। "कणि" एक घरेलू प्रदर्शनी के समान है जिसमें कटहल, ककड़ी, आम, नारियल आदि फल-तरकारियाँ चावल के साथ सजाकर रखी जाती है। सोने-चाँदी के गहने और भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि के पौराणिक चित्र भी रखे जाते हैं। कर्णिकार (कनकचंपा) के छोटे पीले पीले गुच्छे भी उनके बीच में सजाये जाते हैं। फिर उनके आगे घी के दीपक के साथ नारियल के दो वृत्ताकार टुकड़ों में तेल डालकर दिये जलाये जाते हैं। इन सब मंगल द्रव्यों के समूह से जो प्रदर्शनी-सी बनती है उसीको "विषु कणि" कहते हैं।

ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार वर्षारंभ के दिन को भी 'विषु' है। कहते हैं कि उस दिन पहले-पहल मंगल पदार्थों के दर्शन करने से साल-भर खुशहाली बनी रहती है। 'विषु-कणि' इतना मुख्य है कि कई लोग कणि के लिये "गुरुवायूर", "वैकम" आदि प्रसिद्ध मंदिरों में जाकर रात को सोते हैं और सबेरे आँखें बंद किये ही देव के सामने टटोलते हुए या किसी दूसरे के सहारे पहुँचकर अपने नेत्र खोलते हैं। उसी देव-दर्शन को अत्युत्तम 'विषु-कणि' मानकर वे अत्यन्त कृतार्थ होते हैं।

"विषु पटक्कम्" यानी विषु के पटाके बहुत ही मशहूर हैं। लड़के सबेरे तीन या साढ़े तीन बजे ही उठकर "कणि" के दर्शन करते हैं और पटाके जलाने लगते हैं। जैसे तिरुवातिरा

के दिन वाक्किला की ध्वनि हर घर गूंज उठती है, वैसे ही विषु के सबेरे पटाके के तीव्र शब्द कानों के पर्दे फाड़ डालते हैं। "पटक्कम" के बिना बालकों को विषु बिलकुल फीका लगता है। इसलिए वे पटाके खरीदने के लिए कई दिन पहले ही माँ-बाप से झगड़कर पैसे लेते हैं।

विषु के दिन हर घर में विशेष भोज हुआ करता है। घर के बड़े लोग लड़के-लड़कियों तथा नौकर-चाकरों को कुछ पैसे उपहार में देते हैं। इस पुरस्कार को "विषुक्कैनीट्टम्" कहते हैं। "ओणप्पुटवा" की तरह "विषुक्कैनीट्टम्" की प्रथा भी केरल में हर कहीं प्रचलित है। केरल के पुराने राजा और सामन्त लोग ओणम् और विषु के दिन अपने राज्य भर के तमाम अफसरों और कर्मचारियों को बुलाकर "ओणप्पुटवा" और "विषुक्कै-नीट्टम्" दिया करते थे। राजा-प्रजा और स्वामी-सेवक के संतुलन को निभानेवाली ये दोनों प्रथाएँ केरल के ऐसे प्रमुख त्योहारों की विशेषताएँ हैं।

प्रत्येक देश में समय-समय पर जो त्योहार मनाये जाते हैं, वे वास्तव में उस देश के लोगों के दैनिक जीवन की समरसता और एकरूपता में एक अपूर्व मधुरता मिला देते हैं। केरल के ओणम्, विषु, तिरुवातिरा भी ऐसे ही आनन्दवर्द्धक त्योहार हैं। साल भर के बारह महीनों के बीच में बारी-बारी से आकर ये त्योहार जन-साधारण के जीवन के आनन्द-स्रोत को भरपूर और गतिशील बनाये रखते हैं।

मंदिर और मेले

इसमें कोई संदेह नहीं है कि केरल की संस्कृति और सभ्यता के विकास में यहाँ के असंख्य देवी-देवताओं के मंदिरों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वास्तव में यहाँ के मंदिर जनता के धार्मिक उत्साह, कलात्मक अभिरुचि और सांस्कृतिक उन्नति के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। प्राचीन काल से यहाँ के नम्पूतिरी-ब्राह्मण तथा राजा लोग मंदिरों के निर्माण और संचालन का कार्य बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ करते आये हैं। कई नम्पूतिरी-खानदान के लोगों ने अपनी संपत्ति "ब्रह्मस्वम्" का एक बड़ा भारी हिस्सा मंदिरों के लियें दे दिया है। इसी तरह कई राजाओं तथा प्रमुख नायर लोगों नें अपनी संपत्ति "राजस्वम्" से बहुत कुछ "देवस्वम्" को समर्पित की है। इसलिए इस समय भी इस छोटें-से राज्य के अन्दर स्थान-स्थान पर भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम, सुब्रह्मण्यम्, देवी दुर्गा, भगवती, भद्रकाली, शास्ता, आदि विविध देवी-देवताओं के कितने ही छोटें-बड़ें मंदिर पायें जातें हैं।

देवस्वम् और पूजा-क्रम

यें सभी मंदिर परम पूज्य और पवित्र मानें जातें हैं। इनका संचालन या तो सरकार के "देवस्वम्" विभाग की तरफ़

से या जनता के प्रतिष्ठित खानदानों की तरफ़ से, जिनको "ऊराळ्म्मा" कहते हैं, होता है। इन मंदिरों में पूजा का कार्य "नम्पूतिरी" या "ऐम्ब्रान्तिरी" लोग ही करते है। मंत्र-विधि के साथ तन्त्र-विधि का भी समावेश करके यहाँ के मंदिरों में रोज़ सबेरे और शाम पूजा, अर्चना, नैवेद्य, शीवेलि, दीपाराधना आदि विविध प्रकार का कार्यक्रम चलाया जाता है। प्राय: रोज़ सबेरे 4 या 5 बजे मंदिरों के द्वार शंखनाद के साथ खुलते हैं। उस समय का "निर्माल्य दर्शन" बहुत ही पुण्यप्रद माना जाता है और उसके लिये भक्तजन बड़े सबेरे ही स्नान करके आ जुटते हैं। इसके बाद दैनिक आराधना की विविध कार्य-प्रणाली का अनुष्ठान नियमपूर्वक होने लगता है। क़रीब 11 या 12 बजे तक यह कार्यक्रम जारी रहता है। सबेरे के कार्यक्रम में "उषा-पूजा", "पन्तीरटी-पूजा" (परछाई की, जब लम्बाई 12 कदम रहती है तब की पूजा) और "उच्चप्पूजा" (मध्याह्न-पूजा) ये तीन पूजाएँ मुख्य हैं। प्रत्येक पूजा के पहले भगवान् को भात, पायसम्, खीर, केले आदि नैवेद्य चढ़ाये जाते हैं। उस समय शंखध्वनि गूँज उठती है। पूजा के समय श्रीकोविल (वह भीतरी कक्षा जहाँ भगवान् की मूर्ति प्रतिष्ठित है) के द्वार बंद होते हैं और बाहर बाजे बजाये जाते हैं। सबेरे की पूजा-विधि के बाद शाम को 5 बजे मंदिरों के दरवाज़े शंख-ध्वनि के साथ फिर खुलते हैं और दीपाराधना "अत्ताषपूजा" (रात की पूजा) आदि कार्य-क्रम आठ या नौ बजे तक चलता है।

अक्सर भक्त और आराधक लोग रोज़ सबेरे या शाम के वक़्त अपने निकटवाले मंदिर में दर्शन के लिए अवश्य जाते हैं। बड़े मंदिरों में रोज़ सबेरे और शाम के वक़्त "शीवेलि" का कार्य-क्रम भी रहता है। "शीवेलि" उस अनुष्ठान को कहते हैं जिसमें एक पुजारी मुट्ठी भर भात लेकर मंत्रोच्चारण के साथ बलि चढ़ाता हुआ मंदिर की प्रदक्षिणा करता है और उसके पीछे दूसरा पुजारी मंदिर के भगवान् की एक छोटी-सी मूर्ति को लेकर चलता है। उसके सामने विविध प्रकार के बाजे बजाते हुए लोग भी चलते हैं। वह जुलूस मंदिर की तीन परिक्रमा करता है। कहीं-कहीं भगवान् की उस छोटी-सी मूर्ति को एक हाथी, वृषभ, पालकी, आदि पर चढ़ाकर ले जाने का रिवाज भी है। शीवेलि के समय भक्तों की काफ़ी भीड़ रहती है।

मंदिरों का निर्माण

मंदिरों के निर्माण में वास्तु-कला, मूर्तिकला और चित्रकला की बारीकियों का अत्युत्तम प्रदर्शन हुआ है। बड़े-बड़े मंदिरों के गोपुर और ध्वज-स्तंभ भी होते हैं। गोपुर मंदिर की चारों दिशाओं की ओर बने ऊँचे प्रवेश-द्वार हैं, जिनपर विविध जानवरों तथा विचित्र आकारवाले मनुष्यों की मूर्तियाँ शिला या काठ पर खुदी रहती हैं। ध्वज-स्तंभ कहीं-कहीं सोने के या पीतल-ताँबे के होते हैं। मंदिर के चारों तरफ़ काले पत्थर का बना प्रदक्षिणा-पथ होता है। उसके बाद "चुट्टम्बलम्" या

"नालम्पलम्" का घेरा मिलता है। उस घेरे का भातरी भाग बरामदे की तरह बना होता है जहाँ आराधकों को बैठकर जपने, प्रणाम करने आदि की सुविधा मिलती है। उसकी बाहरी दीवार पर संध्या के समय जलाने के लिए छोटे-छोटे पीतल या पत्थर के बने दिये रखे रहते हैं। "नालम्पलम्" के घेरे के भीतर जो खुला आँगन होता है उसके बीच में "श्रीकोविल" या असली मंदिर बना होता है। उस आँगन को "तिरुमुट्टम" कहते हैं। श्रीकोविल के अन्दर भगवान् की मूर्ति की प्रतिष्ठा की जाती है। उसीके सामने मण्डप भी होता है, जहाँ बैठकर ब्राह्यण लोग जप और पूजा करते हैं। बाहर के आँगन से श्रीकोविल की तरफ़ जाने के लिए जो मुख्य प्रवेश-द्वार "चुट्टम्पलम्" के बीच में बना रहता है, उसे "बलिकल्पुरा" कहते हैं। वहाँ, पत्थर का बना हुआ एक बड़ा बलिपीठ होता है। इसीलिए उसका नाम "बलिकल्पुरा" (बलि—बलि, कल्—पत्थर, पुरा—घर) पड़ा है। "बलिकल्पुरा" के सामने ध्वजस्तंभ बना हुआ है। इस तरह यहाँ के मंदिरों में सबसे पहले ध्वज-स्तंभ, उसके बाद बलिकल्पुरा, फिर मण्डप और आख़िर में "श्रीकोविल" मिलता है। श्रीकोविल के चारों तरफ़ तिरुमुट्टम् (आँगन) और चुट्टम्पलम् रहता है। श्रीकोविल के अन्दर केवल पुजारी ही जा सकते हैं। बाकी आराधक और दर्शक लोग बाहर खड़े होकर भगवान् के दर्शन करते हैं। केरल के कुछ मंदिरों की मूर्तियाँ "स्वयंभू" बतायी

जाती हैं। अन्य मंदिरों की मूर्तियाँ धातु या पत्थर से बनायी गयी हैं।

यहाँ के सभी मंदिरों की विशेषता यह है कि उनमें शैव, शाक्त या वैष्णव का भेद-भाव नहीं रहता। उन में स्थान-स्थान पर सभी प्रकार के देवों और देवियों की मूर्तियाँ भी अवश्य प्रतिष्ठित रहती हैं। इसलिए यहाँ के मंदिरों में साम्प्रदायिकता और कट्टरता का पालन बिलकुल नहीं किया जाता है।

मंदिरों में दैनिक पूजा-विधि के अलावा हर साल कुछ खास दिनों में खास त्योहार या मेले भी मनाये जाते हैं। इन मेलों में उत्सव, पूरम्, भरणी, तालप्पोली आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

उत्सव

हर साल श्रावण महीने से उत्सव के त्योहार मंदिरों में आरंभ होते हैं। प्रत्येक मंदिर में उत्सव एक नियत महीने की निश्चित तारीख़ से शुरू होता है और आठ, दस या बारह दिन तक जारी रहता है। शुरू के दिन "ध्वजा" फहरायी जाती है। दूसरी विशेषता यह है कि उत्सव के अवसर पर दैनिक "शीवेलि" कार्यक्रम बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। उन दिनों "शिवेलि" के समय दस-पन्द्रह बड़े-बड़े हाथियों को "तलेक्केट्टु" या "नेट्टिप्पट्टम्" नामक सुनहले शिरोभूषण से सजाया जाता है। उसमें सबसे ऊँचे हाथी को बीच में खड़ा

कर देते हैं। उसके सिर पर भगवान् की सजी हुई मूर्ति जिसे 'कोलम्' कहते हैं, रखी जाती है, जिसको पुजारी पकड़े बैठता है। उस हाथी की पीठ पर कुल चार आदमी बैठते हैं। सबसे पहले मंदिर का पुजारी 'कोलम्' को पकड़कर बैठता है तो उसके पीछे दूसरा आदमी एक बड़ा रेशमी छत्र ताने रहता है। अन्य दो व्यक्ति उसके पीछे खड़े-खड़े दोनों हाथों चाँवर और 'आलवट्टम्' (मोर-पंखों के बने वृत्ताकार पंखे) हिलाते रहते हैं। उस हाथी के दोनों तरफ़ बाकी हाथियों को भी खड़ा कर देते हैं। इन हाथियों के जुलूस के सामने बाजे बजानेवाले लोग खड़े-खड़े चेण्टा, मद्दलम्, कोम्पु, कुळल आदि विविध प्रकार के केरलीय बाजे बजाते हैं। 'नादस्वरम्', 'तकिल' वगैरह तमिल देश के बाजों का भी प्रबन्ध किया जाता है। यह जुलूस धीरे-धीरे तीन बार मंदिर की परिक्रमा करता है। रात के समय जुलूस के आगे अनेक बत्तियोंवाली ऊँची मशालों को लिये तीन-चार पंक्तियों में लोग चलते हैं। मशालों की लाल-लाल रोशनी में हाथियों के सुनहले शिरोभूषण की चमक-दमक देखते ही बनती है।

कुछ सालों के पहले तक उत्सव के दिनों में प्रायः मंदिरों में ब्राह्मण-भोज भी दिया जाता था, जिसके लिए कई ब्राह्मण अवश्य वहाँ एकत्र हुआ करते थे। लेकिन आजकल यह प्रथा बिलकुल बंद हो गयी है।

उत्सव के दिनों में मनोरंजन के लिए 'ओट्टमतुल्लल', 'कुरत्तिप्पाट्टु', 'पाठकम्', 'चाक्यारकूत्तु', 'कथकळी', वगैरह केरलीय कलात्मक कार्यक्रम भी चलते हैं।

'आराट्टु' नामक रस्म अदा की जाती है। 'आराट्टु' के दिन भगवान् की मूर्ति को हाथी पर चढ़ाकर जुलूस में ले जाते हैं और तालाब या नदी में स्नान कराते हैं। इसी स्नान पर्व को 'आराट्टु' कहते हैं। उस अवसर पर असंख्य भक्तजन भगवान् की मूर्ति के साथ स्थानीय नदी या तालाब में स्नान करते हैं। स्नान के बाद फिर जुलूस निकाला जाता है और तब कई पटाखे और विविध प्रकार की आतिश-बाजियाँ जलायी जाती हैं।

कई मंदिरों में एक दूसरे प्रकार का उत्सव भी मनाया जाता है जिसे 'परयुत्सव' कहते हैं। ऐसे उत्सव में कुछ निश्चित दिनों में भगवान् की मूर्ति को हाथी पर रखकर मंदिर के बाहर गाँव भर में जुलूस निकाला जाता है। बाजे बजाते हुए जुलूस को प्रत्येक घर ले जाते हैं। लोग हाथ जोड़े उसका स्वागत करते हैं और धान, चावल, गुड़, हल्दी वगैरह चढ़ाकर अपनी भक्ति प्रकट करते हैं। ये चीजें 'परा' नाम के खास परिमाण के पात्र में भरकर भगवान् की मूर्ति के सामने समर्पित की जाती हैं। अतः 'परा' में भरकर समर्पण करने की इस प्रथा को 'परवैप्पु' और इस उत्सव को 'परयुत्सव' कहते

हैं। परयुत्सव भी आठ या दस दिन तक जारी रहता है और अंतिम दिन में 'आराट्टु' भी होता है। कहीं-कहीं दोनों प्रकार के उत्सव एक साथ भी मनाये जाते हैं। उत्सव के अवसर पर कुछ मन्दिरों में हाथी के बदले पालकी, रथ, या काठ के बने वाहन आदि पर भी भगवान् की मूर्ति सजाये ले जाने का विधान रहता है।

पूरम्

कुछ मंदिरों में साधारण उत्सव के अलावा एक दूसरे प्रकार का मेला भी मनाया जाता है जिसको 'पूरम्' कहते हैं। यह चैत्र या वैशाख मास के "पूर्वाफाल्गुनी" (पूरम्) नक्षत्र के दिन मनाते हैं। इसीलिए इसका नाम 'पूरम्' पड़ा है। यह मेला केवल एक दिन का उत्सव है। लेकिन लोग इसे बड़ी धूम-धाम के साथ मनाते हैं। प्रायः शिव या देवी के मंदिरों में 'पूरम्' त्योहार मनाया जाता है। 'पूरम्' के दिन मुख्य मंदिर के आसपास के छोटे-बड़े जितने मंदिर होते हैं वहाँ की मूर्तियों को अलग-अलग हाथी की पीठ पर चढ़ाकर उसकी दोनों तरफ़ चार-चार या पाँच-पाँच हाथी खड़े कर देते हैं और बाजे-बजाते हुए जलूस निकालते हैं। ऐसे जलूसों की संख्या उन देवताओं की मूर्तियों के बराबर होती है। अतः पूरम् के हाथियों की संख्या कभी सत्तर या सौ तक हो जाती है। पूरम् में हाथियों का जलूस ही सबसे प्रधान दृश्य है। सभी हाथी विधिपूर्वक सजे-धजे नज़र आते हैं। उनकी पीठ

पर तीन-तीन आदमी छत्र, चाँवर और आलवट्टम् पकड़े रहते हैं। बीच के हाथी पर मुख्य भगवान् या भगवती की मूर्ति भी विराजमान नजर आती है। ये जलूस सड़कों पर से होते हुए 'पूरप्परम्पु' नामक विशाल मैदान में, जो मंदिर के आस-पास होता है, एकत्रित होते हैं। वहाँ देर तक विविध प्रकार के बाजे बजाये जाते हैं और पटाखे और आतिशबाजियाँ जलायी जाती हैं। रात के चार बजे तक यह मेला जारी रहता है। उसमें भाग लेने के लिए लाखों की तादाद में स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं।

तालप्पॉली

दुर्गा और महाकाली के मंदिरों में एक खास प्रकार का त्योहार मनाया जाता है जिसको 'तालप्पॉली' कहते हैं। यह त्योहार हर साल माघ और वैशाख मास के अन्दर 'भरणी' नक्षत्र के जितने दिन आते हैं, उन दिनों में सुविधानुसार किसी एक दिन मनाते हैं। 'भरणी' नक्षत्र के दिन के अलावा किसी-किसी मंदिर में अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी आदि नक्षत्रों के दिन भी तालप्पॉली का त्योहार मनाने की प्रथा पायी जाती है। कहीं-कहीं मंगलवार या शुक्रवार के दिन भी 'तालप्पॉली' का प्रबन्ध किया जाता है। 'तालप्पॉली' के दिन, रात के वक़्त एक सजे हुए हाथी पर देवी की मूर्ति को रख बाजे-गाजे के साथ जलूस निकालते हैं। कभी-कभी उस हाथी के दोनों तरफ़ दो-दो या तीन-तीन सजे हुए हाथी और भी होते हैं। उस

हाथी के सामने जिसपर देवी की मूर्ति विराजमान होती है, कई सुन्दर रमणियाँ धुले हुए शुभ्र वस्त्र पहने हथेली पर पीतल की चमकती हुई वृत्ताकार थाली में घी का दीपक जलाये चलती हैं, और धीरे-धीरे जलूस के साथ आरती उतारती हुई आगे-आगे बढ़ती हैं।

'तालप्पॉली' के दिन जुलूस, पटाखे, आतिशबाजियाँ आदि का मनोरंजक कार्यक्रम अवश्य रहता है। इस मेले में स्त्रियों की भीड़ ज्यादा रहती है। यह मेला प्रायः सभी देवी मंदिरों में अवश्य होता है। तालप्पॉली को केरलीय संस्कृति का सुन्दरतम प्रदर्शन भी माना जाता है।

अन्य मेले

इन उत्सवों के अतिरिक्त जन्माष्टमी, नवरात्रि, तैप्पूयम, शिवरात्रि आदि त्योहारों के उपलक्ष्य में संबन्धित देवी-देवताओं के मंदिरों में विशेष मेले लगते हैं। सुब्रह्मण्य-मंदिरों में 'तैप्पूयम' का त्योहार बहुत प्रधान है। उस दिन सबेरे और शामको दूर-दूर से लोग अपने कन्धे पर 'कावटी' लिये भक्ति के आवेश में नाचते हुए मंदिर की तरफ़ जाते हैं। 'कावटी' लकड़ी की बनी धनुष-सी अर्द्धवृत्ताकार वस्तु है जिसकी डाँड़ पर दूध, चीनी, गुड़, गुलाबजल, भस्म आदि के दो छोटे-छोटे कुंभ लटकाये जाते हैं। कभी एक सौ से भी अधिक कावटीवाले एक साथ मिलकर नाचते हुए जाते हैं। उनमें से

कुछ लोग अपने दोनों गालों को एक छोटे-से शूल या 'वेल्' से चुभाये दिखाई देते हैं। 'कावटी-अभिषेक' याने कावटी में लायी हुई चीज़ों को भगवान् की मूर्ति पर चढ़ाना ही, उस दिन की मुख्य रस्म है और मंदिर में दर्शनार्थ भक्तों की भारी भीड़ लगती है।

अय्यप्पन

दुर्गा और सुब्रह्मण्यन के मंदिरों की तरह केरल में बहुत से शास्ता या अय्यप्पन (हरिहरपुत्र) के मंदिर भी प्रसिद्ध हैं। भगवान् अय्यप्पन को केरल के 'राष्ट्र-देवता' या 'देश-देवता' माननेवाले भक्त-जनों की संख्या सबसे अधिक है। यहाँ के 'अय्यप्पन-मंदिरों' में सबसे प्रधान और प्रसिद्ध 'शबरी' नामक ऊँचे पहाड़ पर स्थित एक छोटा-सा सुन्दर मंदिर है। वह मंदिर बड़े भयानक जंगलों के बीच में है जहाँ पहुँचने के लिए भक्त-जनों को काफ़ी कष्ट झेलना पड़ता है। लोग वहाँ साल भर में कार्तिक, माघ और चैत्र मास में केवल दो या तीन निश्चित मौकों पर ही जाने पाते हैं। इन दिनों में भी लोगों को वहाँ कुछ दूर तक अवश्य पैदल जाना पड़ता है क्योंकि पहाड़ों के नीचे के रास्ते ऐसे हैं जिनसे होकर किसी प्रकार की गाड़ी या अन्य वाहन नहीं जाने पाते। भक्त-जनों को वहाँ पहुँचने के लिए कम-से-कम इकतालीस दिन पहले ही से व्रत-निष्ठ रहना पड़ता है। उनको उन दिनों ब्रह्मचर्य-पालन के साथ कठिन

संयम और व्रत का अनुष्ठान करना अनिवार्य माना जाता है। आखिर "शरणं अय्यप्पा।" "शरणं अय्यप्पा" "स्वामी शरणं", "अय्यप्पा शरणं" आदि मंत्रों का ज़ोर-ज़ोर से जप करते हुए अय्यप्पन के भक्त लोग देश के कोने-कोने से रवाना होकर, दल के दल मिल-जुलकर उन ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर चढ़ने तथा भयानक जंगलों को पार करने लगते हैं और उनकी सामूहिक ज़ोरदार आवाज़ सुनकर जंगल के हिंस्र जानवर कहीं भाग कर छिप जाते हैं। ऐसे तीर्थ-यात्री भक्त लोग साधारणतः केवल दिन के वक़्त ही पहाड़ चढ़ने का कार्यक्रम रखते हैं। रात होते ही उनको अपने पूर्व निश्चित किसी सुरक्षित पड़ाव पर पहुँचना अत्यन्त ज़रूरी है, अन्यथा उनको कदाचित् हिंस्र जानवरों का शिकार बनना पड़ेगा। अपने पड़ाव पर विश्राम करने के बाद वे दूसरे दिन सुबह अपनी यात्रा शुरू करते हैं। इस प्रकार तीन दिनों की यात्रा के बाद ही वे शबरी-पीठ पर बने 'अय्यपन-मंदिर' तक पहुँच पाते हैं। वहाँ पहुँचकर लोग एक या दो दिन ठहरकर आराधना करने के बाद दल के दल पहाड़ों से नीचे उतरने लगते हैं और यथाशीघ्र नीचे की तराइयों में पहुँचकर अपनी मोटर-गाड़ियों तथा बस-गाड़ियों में अपने-अपने गाँव लौट जाते हैं। आजकल हर मौके पर इस प्रकार के भक्त-जनों की संख्या पूर्वाधिक बढ़ती ही जाती है और केरल के बाहर से भी अनेक भक्त लोग भगवान् 'अय्यप्पन' के दर्शनों के लिए जाया करते हैं। इन अय्यप्प भक्तों का एक अलग संगठन

'अय्यप्पन-सेवा-संघ' नाम से कायम हुआ है जिसकी तरफ़ से भक्त-जनों की यथासंभव सुविधा और आराम का विशेष प्रबन्ध किया जा रहा है। आजकल प्रत्येक मौके पर लगभग एक या दो लाख तीर्थ-यात्री वहाँ दर्शनार्थ जाते हैं। उनमें केरल के अलावा भारत के अन्य राज्यों के लोग भी काफ़ी संख्या में पाये जाते हैं। इस प्रकार केरल के भगवान् अय्यप्पन समूचे भारत के लोगों के भी 'आराध्य-देवता' बनते जा रहे हैं। 'कोट्टियूर' नामक पहाड़ी-मन्दिर में भी कई व्रतधारी भक्तजन कष्ट उठा कर जाया करते हैं। वहाँ अय्यप्पन के बदले शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा ही मिलती है। दोनों जगह जानेवाले भक्तगण अपने साथ नारियल में घी भर ले जाते हैं और भगवान पर उसे अवश्य चढ़ाते हैं।

शिवरात्रि का मेला अकसर सभी शिव-मंदिरों में लगता है, तो भी "आलुवाय" में पेरियार (पूर्णा) नदी के किनारे उस दिन जो मेला जुटता है, वह बहुत ही बड़ा और मशहूर है। वहाँ की नदी के सिकता-तट पर शिवजी की एक छोटी-सी मूर्ति है जो बाढ़ के दिनों में पानी के अन्दर डूबी रहती है। इसलिए वहाँ कोई मंदिर नहीं बनवाया गया है। शिवरात्रि के पहले वहाँ सिर्फ़ नारियल के पत्ते से एक तात्कालिक मंदिर खड़ा किया जाता है। वहीं नदी के विस्तृत रेतीले मैदान पर शिवरात्रि के दिन हज़ारों की तादाद में लोग इकट्ठे होते हैं और रतजगा करते हैं। रात को मंदिर में 'शिवेलि' और 'एषुन्नळ्ळिप्पु'

होते हैं। भगवान् के सामने 'काणिक्क' (भेंट) पैसे चढ़ाये जाते हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय को छोड़कर अन्य जाति के लोग दूसरे दिन सबेरे नदी में स्नान कर अपने पितरों को श्राद्ध भी चढ़ाते हैं। उस दिन चढ़ाया हुआ पिण्ड-दान बड़ा ही श्रेष्ठ माना जाता है।

केरल में सैकड़ों छोटे-बड़े सार्वजनिक मंदिरों के देवी देवताओं के अलावा कुछ घरेलू और पुश्तैनी देवों तथा देवियों की पूजा की व्यवस्था भी कहीं-कहीं रहती है। कुछ बड़े-बड़े नम्पूतिरी और क्षत्रिय खानदानों के मुख्य घर के भीतरी आँगन में जिसे "नटुमुट्टम्" कहते हैं, उनके कुल-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती हैं। इसी प्रकार कई नयार और ईष़वर लोग भी अपने 'तरवाटु' याने खानदान में इष्टदेवताओं और पूर्व पुरुषों की मूर्तियाँ स्थापित कर पूजा करते हैं।

सर्पपूजा

केरल के घरों में तथा कुछ मन्दिरों में प्रायः सर्प-पूजा का रिवाज भी चलता है। घर के आँगन के एक कोने में पेड़-पौधों और लता-बेलों का एक घना झुरमुट रहता है जिसको 'सर्प-कावु' कहते हैं। वहाँ एक छोटे चबूतरे पर नागराज और नागयक्षी की तीन-चार मूर्तियाँ रखी जाती हैं। रोज़ शाम को वहाँ दीपक जलाया जाता है और साल के कुछ निश्चित दिनों में खीर-नैवेद्य चढ़ाकर विशेष पूजा भी की जाती है।

केरल के लोग आज तक इस प्राचीन द्राविड़ संस्कार को अक्षुण्ण रखते आये हैं। सर्प-कावु के साँप एक तरह से घर के संरक्षक ही माने जाते हैं। माना लाता है कि वे इतने सीधे होते हैं कि घर के किसीको कभी काटते नहीं हैं। कहा जाता है कि जब उनका 'कावु' किसी कारण से अपवित्र होता है, तब कोई साँप दूत बनकर घरवालों के सामने जाता है और मूक भाषा में अपनी अशुद्धि बता देता है। घर के लोग इस संकेत को समझकर 'कावु' को धार्मिक आचार से पवित्र बनाते हैं। आज भी कई लोग ऐसा मानते हैं कि उन सांपों का अहित करने से घर के लोग खाज-कुष्ठ आदि रोगों से पीड़ित होते हैं।

इस युग में भी मध्य केरल के त्रिचूर शहर के पास 'पाम्पु मेक्काट्टु' और हरिपाटु के पास 'मण्णारशाला' नामक दो नम्पूतिरी खानदानों में 'सर्पपूजा' का विशेष आयोजन रहता है। उनके घर के एक विशिष्ट कमरे में आज भी एक बड़ी बाँबी मौजूद है। जहाँ जहरीले साँप रहते हैं। अनेक लोग सर्प-कोप को दूर करने के लिए वहाँ जाकर दर्शन करते हैं और उन दोनों खानदानों के किसी ब्राह्मण को बुलाकर अपने यहाँ पूजा भी कराते हैं।

केरल के हिन्दुओं के मेलों में उत्तर मलबार के 'तॅरा' नामक वीर-पूजा संबन्धी मेलों का भी विशेष महत्व-पूर्ण स्थान है। 'ओच्चिरा-कळि' नामक एक लोकप्रिय धार्मिक त्योहार

दक्षिण केरल में प्रचलित है। प्राय: देवी-मन्दिरों में 'कळमॅषुत्तु पाट्टु', 'तूक्कम', 'तीयाट्टु' आदि विशिष्ट चित्रकलात्मक एवं संगीत और नृत्य से मिश्रित त्योहारों और पर्वों को मनाने की प्रथा भी प्रचलित है। पुराने समय में उन पर्वों पर 'अज-बलि', 'कुकुट-बलि' आदि का अनुष्ठान भी हुआ करता था।

हिन्दुओं के अलावा केरल के ईसाई और मुसलमान लोग अपने गिरजाघरों और मसजिदों में 'पेरुनाळ्' नामक त्योहार मनाया करते हैं। उन 'पेरुनाळों' के अवसर पर वे अपने पैगम्बर, सन्त, पुण्य-पुरुष आदि की आराधना में जुलूस निकालते हैं और आतिशबाजी लगाते हैं। उन मेलों में भी केरल के कई हिन्दू लोग दर्शक बनकर भाग लेते हैं।

केरल के सभी मेलों में धार्मिक सहिष्णुता और पारस्परिक सहृदयता का पालन प्रचुर मात्रा में ज़रूर किया जाता है। यह देखकर आगन्तुक विदेशी लोग अवश्य आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। केरल की विविध जातियों के लोग अपनी परम्परा के अनुसार बहुत से देवों, देवियों और पूर्वपुरुषों की आराधना स्वतन्त्र रूप से करते हैं, तो भी उनके बीच में अद्‌वैत वेदान्त की भावना सुदृढ रहती है, यह भी केरल की धार्मिक-संस्कृति की विशेषता ही मानी जा सकती है।

शिक्षा का प्रसार

कतिपय विश्वस्त प्रमाणों से यह बात निर्विवाद रूप से साबित हो चुकी है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर केरल के लोग प्रायः सुशिक्षित, सभ्य, साहसी, पराक्रमी एवं जिज्ञासु रहा करते थे। केरल के आस-पास के अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ की जनता में साक्षरता, सभ्यता और संस्कृति बहुत अधिक पायी जाती थी। इतिहास से ज्ञात होता है कि पुराने समय से लेकर आधुनिक काल तक केरल के प्रायः सभी अधिवासी स्वभावतः सादगी-पसन्द, शिक्षा-प्रेमी, कलाकार एवं अध्यवसायी रहा करते हैं। यहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण पढ़ने-लिखने की ओर यहाँ के स्त्री-पुरुषों को विशेष अभिरुचि दीख पड़ती है। शिक्षा के क्षेत्र में यहाँ के लोग असीम तत्परता एवं अदम्य जिज्ञासा सदैव प्रकट करते हैं, क्योंकि उत्सुकता, शिक्षा-परायणता, एकाग्रता आदि के सहज गुण उनमें प्राकृतिक वरदान के रूप में विद्यमान हैं।

प्राचीन शिक्षण-संस्थाएँ

प्राचीन काल में यहाँ पचासों प्रतिष्ठित सामन्तों तथा राजाओं के स्वाभाविक शिक्षा-प्रेम के कारण उन्हीं के महलों तथा प्रासादों में कई प्रकार के 'गुरुकुल' अथवा 'विद्यापीठ'

चलाये जाते थे। उनमें विद्वान एवं तपस्वी आचार्य नियुक्त होते थे जिनकी देख-रेख में चुने हुए ब्रह्मचारियों को संस्कृत भाषा और साहित्य, शास्त्र और वेदान्त, न्याय और धर्म आदि महत्वपूर्ण विषयों की प्रौढ़ शिक्षा देने का अच्छा प्रबन्ध किया जाता था। ऐसे सामन्तों तथा राजाओं के अलावा केरल के कई धनी-मानी नम्पूतिरी ब्राह्मणों के 'इल्लम्' अथवा घरों में भी करीब उसी प्रकार की शिक्षण-संस्थाएँ संचालित होती थीं। ऐसे 'गुरुकुलों' और 'विद्यापीठों' में देश के सैकड़ों सुयोग्य ब्रह्मचारियों तथा स्नातकों को निःशुल्क निवास और भोजन पाने की सुविधा दी जाती थी। कहीं-कहीं संस्कृत के अलावा लोगों को मातृभाषा मलयालम में भी उच्च शिक्षा प्रदान करने का समुचित प्रबन्ध रहता था। इसके कई प्रमाण मिलते हैं कि ऐसी शिक्षण-संस्थाओं में अनेक वर्ष रहकर अच्छी तरह शिक्षित एवं दीक्षित होने के बाद केरल के कई विद्वान और शास्त्रज्ञ महापुरुष भारत के इतर देशों में घूम-फिरकर जगह-जगह के पण्डितों के समाज में 'वाक्यार्थ', 'काव्यार्थ', 'शास्त्रार्थ' आदि करके अपनी प्रगाढ़ विद्वत्ता से विजयश्री-लालित होकर लौट आये हैं। विश्वविख्यात जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य और 'नारायणीयम' के कवि मेलप्पत्तूर नारायण भट्टतिरी ऐसे महापुरुषों में सर्वश्रेष्ठ थे।

प्राचीन केरल में उपर्युक्त प्रकार के गुरुकुलों के अलावा संस्कृत और मलयालम में बच्चों को प्रारंभिक शिक्षा प्रदान

करने तथा युवकों को अस्त्र-शस्त्रों की विद्या में निपुण बनानें के उद्देश्य से स्थान-स्थान पर दूसरे प्रकार की कई शिक्षण-संस्थाएँ जनता के नेताओं और प्रभुओं की तरफ़ से चलायी जाती थीं। उनको 'एषुत्तुपळ्ळि' अथवा 'कळरी' का नाम दिया जाता था। यद्यपि इस समय ये दोनों शब्द एक दूसरे के बदले प्रयुक्त होनेवाली पर्यायवाची संज्ञाओं के समान केरल में प्रचलित हुए हैं तो भी आरंभ काल में साधारणतः 'एषुत्तुपळ्ळि' लिपि-पाठ अथवा अक्षराभ्यास एवं भाषा तथा साहित्य का शिक्षण देने के इरादे से स्थापित संस्था मात्र समझी जाती थी और 'कळरी' तो अक्षराभ्यास और साहित्यिक अध्ययन की अपेक्षा अस्त्र-शस्त्रों के अभ्यास एवं युद्ध-कला सिखाने के उद्देश्य से चलायी जानेवाली संस्था के रूप में अधिक विख्यात मानी जाती थी। 'एषुत्तुपळ्ळि' के आचार्य को 'आशान्' कहते थे। 'कळरी' के गुरुवर्य को 'गुरुक्कल्', 'पणिक्कर', 'कुरुप' आदि नामों से अभिसम्बोधित किया करते थे। इन दोनों प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं का पाठ्यक्रम प्रारंभ काल में अलग-अलग ही था। लेकिन कालान्तर में दोनों के शिक्षा-क्रम में एक प्रकार की समानता आ गयी। इस लिए दोनों को समान स्तर की संस्थाएँ मानने लगे।

केरल के प्राचीन कळरियों में अध्ययन और अभ्यास करके इस देश के कितने ही युवकों ने अपने समय के युद्ध-क्षेत्रों में आश्चर्यजनक वीरता और साहस प्रकट किया है। अपनी अपूर्व

शूरता और सामर्थ्य के कारण मलयालम भाषा के प्राचीन साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थों में वे शाश्वत यश और सम्मान के पात्रों के रूप में वर्णित हुए हैं। मलयालम के प्राचीन साहित्य में ऐसे अनेक वीर योद्धाओं की मार्मिक एवं उत्तेजक कथाएँ उपलब्ध होती हैं जो हिन्दी के राजपूत योद्धाओं के समान आदर के पात्र हैं। 'वटक्कन पाट्टुकळ्' और तॆक्कनपाट्टुकळ् नामक गीत-काव्यों में उन वीरों के आदर्श चरित्र एवं अक्षय कीर्ति की मनोज्ञ गाथाएँ विद्यामान हैं।

'एषुत्तुपळ्ळि' की संख्या प्राचीन केरल में बहुत अधिक थी। उनमें प्रायः बालक-बालिकाओं को प्रारंभिक शिक्षा देने की व्यवस्था ही अधिक रहती थी। मलयालम के प्राचीन कवि 'एषुत्तच्छन' का कार्यक्षेत्र प्रारंभ में एक 'एषुत्तु-पळ्ळि' ही माना जाता है। उनके द्वारा एषुत्तुपळ्ळियों का प्रचार देश में बहुत बढ़ गया। इस समय भी कहीं-कहीं कोई न कोई 'एषुत्तुपळ्ळि' प्रारंभिक विद्यालय के रूप-में विद्यमान हैं जहाँ छोटे-छोटे ग़रीब बच्चों को अक्षराभ्यास कराने का प्रबन्ध मात्र किया जाता है। लेकिन अब इसका अस्तित्व सचमुच मिटता ही जा रहा है।

प्राचीन काल में केरल के कई प्रसिद्ध देव-मन्दिरों में नम्पूतिरी-ब्राह्मणों को वैदिक शिक्षा देने के उद्देश्य से सुव्यवस्थित 'वेद पाठशालाएँ' भी चलायी जाती थीं। उनमें यद्यपि

ब्राह्मण-जाति के विद्यार्थियों को छोड़कर अन्य जाति के लोगों को शिक्षा देने की कोई व्यवस्था नहीं थी तथापि केरल के लोगों में शिक्षा का प्रसार करने में उन पाठशालाओं का महत्व बिलकुल कम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि केरल के लोगों को शिक्षित बनाने के कार्य में यहाँ के वैदिक ब्राह्मण नम्पूतिरियों का सर्वदा विशेष हाथ अवश्य रहा है। इस प्रकार गुरुकुल, कळरी, एषुत्तुपळ्ळि, वेद-पाठशाला आदि प्राचीन शिक्षण-संस्थाओं के विविध कार्य-कलापों के फलस्वरूप यह सिद्ध हो जाता है कि शिक्षा के प्रचार-कार्य में केरल का स्थान अत्यन्त प्राचीन काल में भी विशेष महत्व-पूर्ण एवं प्रशंसनीय अवश्य रहा है।

संस्कृत का प्रभाव

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि प्राचीन काल में आर्यों के प्रभाव के कारण केरल के शिक्षित लोग अपने को संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित कहलाने में विशेष गर्व और आनन्द का अनुभव अवश्य करते थे। वटक्कंकूर, चेम्पकश्शेरी पोरलातिरी, सामोतिरी आदि कई सामन्त राजाओं के यहाँ संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन और अध्यापन की अच्छी व्यवस्था रही थी। वे संस्कृत-पण्डितों का बहुत अधिक सम्मान भी करते थे। इसी प्रकार 'कोचिन्', 'कोटुंगल्लूर' 'तिरुवितांकूर' आदि देशी राजाओं के महलों में भी संस्कृत भाषा, साहित्य एवं शास्त्रों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था रहती थी। वे भी देश-देश के संस्कृत-

विद्वानों को अपने यहाँ बुलाकर उनका सब प्रकार से सम्मान किया करते थे। तन-मन-धन से उनकी सहायता करके उनको अच्छा प्रोत्साहन देते थे। इस प्रकार राजाओं के आश्रय में रहनेवाले विद्वान संस्कृत भाषा का विशेष समर्थन करना अपना परम कर्तव्य मानते थे। अतएव केरल की शिक्षा और सभ्यता के क्षेत्र में संस्कृत भाषा एवं साहित्य का सर्वथा आश्चर्यजनक प्रभाव पाया जाता है। केरल में संस्कृत-पण्डितों का प्रभाव इतना अधिक था कि आज केरल के लोगों की बोलचाल की मलयालम भाषा में भी साठ-सत्तर फी-सदी संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्द अनायास हिल-मिल गये हैं और मामूली आदमी को उसका पता ही बिलकुल नहीं रहता। कोई साधारण मलयालम-भाषा-भाषी व्यक्ति उन शब्दों को अपनी भाषा की सम्पत्ति मानने में ज़रा भी संकोच नहीं करता। वास्तव में आधुनिक मलयालम में 'मणिप्रवालम' नामक जो संस्कृत-मिश्रित शैली प्रचलित हुई है उसका सारा श्रेय भी संस्कृत भाषा और केरल की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को अवश्य दिया जा सकता है।

तमिल का प्रभाव

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि केरल के शिक्षित लोगों पर प्राचीन काल से ही तमिल भाषा और तमिल संस्कृति का अत्यन्त गहरा एवं अमिट प्रभाव अवश्य पड़ा हुआ है। प्राचीनतम मलयालम में तमिल भाषा के कितने ही सर्वनाम, क्रियाएँ, प्रत्यय आदि ज्यों

के त्यों पाये जाते हैं। इसी प्रकार केरल के संगीत पर भी तमिल संगीत का अच्छा प्रभाव दीख पड़ता है। मालूम पड़ता है कि केरल के नृत्य, अभिनय आदि के विकास में भी तमिल-देश की नृत्य-कला, नाट्य-कला और अभिनय-कला का सुन्दर एवं समुचित समन्वय अवश्य दीख पड़ता है। अतः केरल की प्राचीन-कालीन शिक्षा के निर्माण, विकास और प्रसार में संस्कृत भाषा और साहित्य की तरह तमिल-भाषा, तमिल-संस्कृति और तमिल-सभ्यता ने भी अपना बहुत कुछ समर्पण अवश्य किया है—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अंग्रेजी का प्रभाव

केरल के शिक्षा-क्षेत्र में तमिल और संस्कृत के समान अथवा उनसे भी बहुत अधिक अंग्रेजी भाषा और आधुनिक सभ्यता के कारण क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और आजकल उसका असाधारण विकास दीख पड़ता है। अतः अब यही मालूम पड़ता है कि आधुनिक युग के अनुकूल शिक्षा का प्रचार केरल में अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत पहले से होने लगा था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि केरल के लोगों को आधुनिक ढंग से सुशिक्षित एवं सभ्य बनाने में ईसाई मिशनरियों की सेवाएँ सर्वथा सफल एवं प्रशंसनीय रही हैं। अंग्रेजी भाषा के प्रचार में उन पादरियों का प्रयत्न यहाँ इसलिए अधिक सफल निकला कि उन्होंने सबसे पहले गिरजाघरों में स्थानीय लोगों के लिए छोटी-छोटी प्रारंभिक पाठशालाएँ खोलीं और उनमें अनेक गरीब

एवं अपढ़ लोगों को बुला-बुलाकर प्रादेशिक भाषा मलयालम में लिखने-पढ़ने की शिक्षा देने की अत्यन्त आकर्षक व्यवस्था कर दी। उसके बाद धीरे-धीरे उन सबको अंग्रेजी भाषा और ईसाई-धर्म की तरफ बड़ी निपुणता से मोहित कर लिया। हाँ, उन दिनों के ईसाई पादरियों की साधना और तपस्या के फलस्वरूप साधारण जनता में अपूर्व वेग से मलयालम लिखने और पढ़ने की शिक्षा का अभ्यास खूब होने लगा। अपनी मातृभाषा में लिखने-पढ़ने की शिक्षा पाने के उत्साह और आनन्द के कारण केरल के साधारण लोग ईसाई पादरियों के द्वारा संचालित पाठशालाओं में अपने-आप जाकर अध्ययन करने लगे और अपने बाल-बच्चों को भेजकर पढ़ाने में विशेष तत्पर बनने लगे। हिन्दू धर्म के अनुयायी लोग भी उन पाठशालाओं में जाकर अध्ययन करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते थे। अतः बहुत शीघ्र ही ईसाइयों द्वारा स्थापित पाठशालाएँ केरल में काफ़ी लोक-प्रिय होने लगीं। उनकी नवीन पाठशाएँ प्रायः गिरजाघरों और मसजिदों के बिलकुल निकट स्थापित होती थीं। उनको 'पळ्ळिक्कूटम' नाम से पुकारते थे। मलयालम भाषा में 'पळ्ळि' का अर्थ है गिरजा-घर या मसजिद अथवा विद्यालय, और 'कूटम' का माने 'जुड़ा हुआ घर' अथवा 'मिलाया भवन' होता है। अब मलयालम में 'पळ्ळिक्कूटम्' शब्द एक प्रकार से रूढ़मूल हो गया है और केवल स्कूल अथवा पाठशाला के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

ईसाई मिशनरियों के द्वारा स्थापित सैकड़ों स्कूलों और कालेजों के कारण केरल के लोगों के बीच में आज साक्षरता और स्कूली शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक बढ़ चुका है। उन संस्थाओं को देखकर तत्कालीन महाराजओं की सरकारों की ओर से भी कई स्कूल एवं कालेज खोले गये क्योंकि उनकी अनिवार्य आवश्यकता उन्हें महसूस होने लगी। इस प्रकार केरल में सरकारी स्कूलों की स्थापना ईसाई पादरियों के स्कूलों के अनुकरण पर ही हुई थी। धीरे-धीरे यहाँ सरकारी तथा गैर-सरकारी पाठशालाओं तथा कालेजों की संख्या अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी।

सबसे पहले सन् 1834 में केरल के तत्कालीन कोच्चिन् एवं तिरुवितांकूर इन दो राज्यों के महाराजाओं की सरकारों ने अंग्रेजी स्कूल खोलकर अपने यहाँ के लोगों में अंग्रेजी शिक्षा पाने का उत्साह बढ़ाया। केरल में अंग्रेजी का प्रचार तभी से प्रारंभ हुआ। उसी वर्ष मद्रास सरकार के 'लोकल् बोर्ड्स एक्ट' के कारण केरल के उत्तर भाग के 'मलबार' नामक प्रदेश में भी अंग्रेजी पाठशालाएँ खोली गयीं। कुछ सालों के बाद सरकार तथा ईसाई मिशनरियों को देखकर केरल के 'नायर' और 'ईषवर' जाति के लोग भी अपनी ओर से धीरे-धीरे गैर-सरकारी स्कूल और कालेज खोलने का प्रयत्न करने लगे। उनके महान् परिश्रम के फलस्वरूप' 'नायर' जाति के

लोगों ने अपने 'नायर सर्विस सोसाइटी' एवं ईष्वर जाति के लोगों ने अपने 'श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्' नामक साम्प्रदायिक एवं सुधारवादी संगठनों के तत्वावधान में केरल के कतिपय प्रमुख केन्द्रों में स्कूल और कालेज स्थापित किये। इस प्रकार केरल के ये दोनों प्रमुख साम्प्रदायिक संगठन भी अपनी कई स्वतन्त्र शिक्षण-संस्थाओं के द्वारा शिक्षा का प्रसार करने में पूरा उत्साह और उमंग दिखाने लगे। उसके फलस्वरूप आज इन दोनों संगठनों के अधीन पचासों अच्छी-अच्छी शिक्षण-संस्थाएँ काम कर रही हैं। इन संस्थाओं के संचालन के लिए सरकार भी भरसक आर्थिक एवं अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करती है।

आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल शिक्षा-योजना तैयार करके प्रचलित शिक्षा-क्रम में आवश्यक सुधार और परिवर्तन लाने में भी केरल की सरकार को गैर-सरकारी शिक्षण-संस्थाओं के संचालक विवेकपूर्ण एवं सक्रिय सहयोग अवश्य प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी-भाषा को यहाँ के पाठ्यक्रम में स्थान देने की बात की ही लीजिए। आज केरल की प्रायः सभी पाठशालाओं में अनिवार्य रूप से हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था हो चुकी है। इस विषय में यहाँ कोई कठिनाई नहीं हुई क्योंकि समय के अनुसार शिक्षा-क्रम में सुधार लाना यहाँ की सरकार और जनता अनिवार्य मानती है और परिवर्तन को

पसन्द भी करती है। दक्षिण भारत के अन्य राज्यों के शिक्षा-क्रम में राजभाषा हिन्दी को उतना अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण स्थान अभी तक नहीं दिया गया है जितना केरल में। इसी प्रकार प्राविधिक शिक्षा के विकास के लिए भी केरल राज्य में बहुत ही उत्तम एवं सफल प्रयत्न हो रहा है।

अनिवार्य शिक्षा

केरल राज्य में इस समय एक प्रकार से अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने की अच्छी व्यवस्था अमल में लायी जा रही है। बच्चों को निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया है। यहाँ छः से ग्यारह वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क घोषित की गयी है। इस महत्त्वपूर्ण घोषणा के कारण केरल के गरीब से गरीब बच्चों में भी साक्षरता और सामान्य शिक्षा के प्रति सहज प्रेम उत्पन्न करने में सरकार को बड़ी सफलता मिली है। इस कार्य में सरकारी तथा गैर-सरकारी स्कूलों के सभी अधिकारी बड़ी दिलचस्पी दिखाते हैं। अतः आज यहाँ की हज़ारों प्रारंभिक पाठशालाओं में स्थानाभाव के कारण विद्यार्थियों को पूरे दिन की शिक्षा देने के बदले आधे दिन की शिक्षा मात्र बारी-बारी से देने का क्रम अमल में लाना पड़ रहा है। प्रतिवर्ष विद्यार्थियों की संख्या हज़ारों की तादाद में बढ़ती रहती है।

हिन्दी का प्रभाव

इन दिनों हिन्दी भाषा का प्रचार केरल में बहुत बढ़ रहा है। अतः यहाँ के गाँव-गाँव में हिन्दी प्रचारकों के द्वारा सैकड़ों हिन्दी पाठशालाएँ स्वतन्त्र रूप से चलायी जाती हैं, जिनमें अध्ययन करके हज़ारों स्त्री-पुरुष हिन्दी की विविध परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर लेते हैं। इस समय केरल में ऐसे अनेक अच्छे-अच्छे हिन्दी विद्यालय भी मिलते हैं जहाँ हिन्दी की उच्च शिक्षा प्रदान करने की उत्तम व्यवस्था रहती है। केरल के शिक्षा-क्षेत्र में इन हिन्दी विद्यालयों की अनुपम सेवाएँ भी सर्वथा स्मरणीय हैं।

इसी प्रकार हिन्दी विद्यालयों की तरह कितनी ही ऐसी स्वतन्त्र संस्थाएँ हैं, जिनमें संगीत, नृत्य, चित्र-कला आदि की शिक्षा दी जाती है। शीघ्र-लिपि एवं मुद्रा-लेखन की शिक्षा प्रदान करनेवाली सरकार से मान्यता-प्राप्त स्वतंत्र संस्थाएँ भी केरल में सैकड़ों मिलती हैं। इस प्रकार देखा जाय तो हम इतना तो अवश्य बता सकते हैं कि केरल में शिक्षा-प्रसार के कार्य में बड़ी तीव्र गति से उन्नति और सफलता अवश्य हो रही है। अतः वास्तव में शिक्षा के प्रसार में केरल राज्य भारत में सर्वप्रथम माना जाता है।

प्राचीन काल से लेकर आज तक शैक्षणिक क्षेत्र में केरल के लोग निरन्तर उन्नति करते रहे हैं। पहले यहाँ की प्रादेशिक

भाषा मलयालम को संघकालीन तमिल की प्राचीन हथकड़ियों और बेड़ियों से छुटकारा देकर स्वतन्त्र विकास के योग्य बनाने की दिशा में महत्व-पूर्ण सेवा संस्कृत के द्वारा ही यहाँ के पुराने देव-मंदिरों, राजभवनों और ब्राह्मण-घरों के संस्थापकों और स्वामियों ने की थी। उसी समय उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप कई श्रेष्ठ संस्कृत-विद्वान और कवि यहाँ उत्पन्न हुए। उनके ग्रन्थों का बड़ा भण्डार आज भी उपलब्ध है। जनता के द्वारा समय-समय पर संस्थापित प्राचीन 'कळरियाँ' यहाँ के लोगों की कलात्मक अभिव्यक्ति, युद्ध-कुशलता और शस्त्र-विद्या की बराबर वृद्धि करती रहीं। इसी प्रकार अतिप्राचीन काल से बौद्ध, ईसाई आदि विधर्मियों के कई विहारों, शालाओं और 'विद्या-मंदिरों' में अध्ययन करके यहाँ के लोग 'धार्मिक सहिष्णुता' और 'सर्वधर्म-सम-भाव' के महान गुणों के सर्वदा संरक्षक बन सके। विदेशी भाषाओं के प्रति केरल के लोगों ने कदापि उपेक्षा और अनादर का भाव नहीं प्रकट किया है। अतः तमिल, संस्कृत, अरबी, उर्दू, फ्रेंच, अंग्रेजी, हिन्दी आदि विविध भाषाओं के अभिज्ञाता विद्वान लोग केरल में युग के प्रभाव के अनुकूल बनते और बढ़ते रहे। इसलिए इस संसार के किसी कोने में जाकर लड़ने, रहने, और सेवा करने की अद्भुत क्षमता और सहिष्णुता केरलीय जनता में अनादि काल से लेकर आज तक अवश्य बराबर पायी जाती है। यही विशेषता केरलीय सभ्यता और संस्कृति की अमूल्य देन है।

भाषा, साहित्य और कला

केरल के अधिकांश लोगों की मातृभाषा मलयालम है। मलयालम को अपनी जन्मभूमि के नाम के आधार पर कई लोग "कैरली" भी कहते हैं। यद्यपि "कैरली" अपनी बड़ी बहन तमिल भाषा के बराबर अत्यधिक पुरानी अथवा प्राचीनतम भाषा नहीं मानी जाती है और उसका स्वतंत्र अस्तित्व केवल 900 ई० के करीब ही साबित किया जा सकता है, तो भी उसका व्याकरण और शब्द-समूह तमिल की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक एवं सर्वांगसंपूर्ण हैं। दक्षिण भारत की प्राचीन द्राविड़-भाषा के कुल में जन्म लेने पर भी मलयालम पर अपनी जननी की अपेक्षा धात्री 'संस्कृत-भाषा' का बहुत अधिक प्रभाव दीख पड़ता है। प्राचीन मलयालम में भी उत्तर भारत की कई प्रमुख भाषाओं की तरह संस्कृत के सैकड़ों शब्द अपने तत्सम और तद्भव रूपों में पाये जाते हैं।

भाषा का परिचय

भाषा-विज्ञान के विद्वानों के बीच में 'मलयालम' भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रधानतः दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। एक मत यह है कि प्राचीन काल में मलयालम नामक कोई भाषा नहीं थी और उन दिनों केरल में प्रचलित भाषा का

नाम 'मलयामतमिल' था, जिससे यही मानना पड़ता है कि मलयालम तमिल भाषा से उत्पन्न एक बोली मात्र थी, जिसका आगे चलकर इतना अच्छा विकास हो गया कि उसे एक अलग स्वतन्त्र भाषा का स्थान प्राप्त हुआ। इस मत का समर्थन बिशप काल्ड्वॅल, ए० आर० राजराज वर्मा आदि विद्वानों ने किया है। लेकिन आधुनिक विद्वानों का मत यही है कि मलयालम भी पहले से ही तमिल की तरह एक स्ववन्त्र भाषा रही थी और उसकी उत्पत्ति भी मूल द्राविड़ भाषा से ही हुई है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ आदि की तरह मलयालम भी 'द्राविड़ भाषा' को ही सर्वथा अपनी जननी मान सकती है। इस मत का समर्थन अनेक प्रमाण पेश करते हुए खूब किया जा चुका है। इसलिए इसीको ज्यादा सही मानना उचित प्रतीत होता है।

तमिल और मलयालम का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह विदित होगा कि इन दोनों भाषाओं के व्याकरण, शब्द-भाण्डार और मुहावरों में बड़ी समानता पायी जाती है। इसलिए विद्वानों के मन में यह भ्रम उत्पन्न होने की संभावना है कि मलयालम तमिल की एक शाखा अथवा बोली मात्र है। लेकिन मलयालम में प्रचलित कई प्राचीन शब्द जैसे 'तुन्नलकारन' 'पीटिक', 'अङ्ङाटि', 'अळियन' 'पत्तायम' 'ईटु', 'तोणि', 'पाव', 'पुलरि' आदि इस भ्रम को दूर करने के लिए पर्याप्त हैं, क्योंकि इनके प्रयोग प्राचीनतम 'द्राविड़ भाषा' को छोड़कर

अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। इसी तरह 'तमिल' में क्रियाओं का प्रयोग लिंग-वचनों के जिन नियमों के अनुसार किया जाता है उनका पालन मलयालम में बिलकुल नहीं होता। मलयालम में क्रियाओं का रूप केवल काल-भेद के अनुसार बदलता है, न कि कर्त्ता के लिंग-वचन के आधार पर। यह विशेषता मलयालम भाषा की अपनी चीज़ है, जिसका अस्तित्व कदाचित प्राचीन 'द्राविड़ भाषा' में रहा होगा। अतः मलयालम को तमिल की शाखा अथवा बोली मानने की अपेक्षा 'बहन' मानना ठीक होगा। आर्यों के सम्पर्क में आने से संस्कृत भाषा के प्रभाव के कारण मलयालम का प्राचीन रूप बिलकुल बदल गया और 'मणिप्रवालम' नामक नयी संस्कृत-मिश्रित शैली का प्रचार बढ़ गया। मलयालम का आधुनिक रूप इसी 'मणिप्रवालम' शैली से संपूर्ण रूप से प्रभावित है। अतः वर्तमान मलयालम में संस्कृत के सैकड़ों शब्द और प्रयोग प्रचलित हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मलयालम के विकास में तमिल और संस्कृत भाषाओं का प्रभाव बहुत पड़ा है। इसी प्रकार अरबी और फारसी के कई शब्द भी मलयालम में पाये जाते हैं, क्योंकि अरब और फारस के साथ केरल का व्यापार बहुत प्राचीन काल में भी होता रहता था और उन व्यापारियों की भाषाओं का थोड़ा-बहुत प्रभाव मलयालम पर अवश्य पड़ता था। आगे चलकर मैसूर के हैदरअली, टीपू सुलतान आदि मुसलमान शासकों के आक्रमणों के कारण भी मलयालम भाषा पर उर्दू का थोड़ा-बहुत

प्रभाव अवश्य पड़ा है। इसलिए आधुनिक मलयालम में उर्दू, अरबी और फारसी के कई शब्द अपने तत्सम और तद्भव रूपों में प्रचलित हैं। अंग्रेजों के शासन-काल में मलयालम भाषा का विकास विशेष रूप-से हुआ है। उस युग में भाषा की रचना-शैली तथा नये-नये शब्दों के प्रयोग में जो विशेष क्रान्ति हुई है उसका महत्व अवश्य उल्लेखनीय है। इस प्रकार मलयालम भाषा सदा प्रगतिशील एवं परिवर्तनशील रही है, जिससे उसका विकास प्रत्येक युग में थोड़ा-बहुत अवश्य होता रहा है।

मलयालम की वर्णमाला संस्कृत के बराबर ही है। दो-चार वर्ण अधिक भी मिलते है। मलयालम की अपनी अलग लिपियाँ भी हैं, जो अत्यन्त सुन्दर और संपूर्ण हैं। यद्यपि नागरी लिपियाँ मलयालम् की निजी लिपियों की तरह संपूर्ण नहीं हैं तो भी उनके सहारे से भी मलयालम भाषा अच्छी तरह लिखी और पढ़ी जा सकती है। लेकिन मलयालम के दो-चार वर्णों के लिए नागरी लिपियों में कुछ विशेष प्रकार के चिह्नों का उपयोग करना भी पड़ेगा। अतः भारत की राष्ट्र-लिपि अथवा सामान्य लिपि के रूप में नागरी लिपियों को अपनाने के प्रस्ताव का विरोध शायद ही मलयालम के भक्त लोग करेंगे। केरल के कई वर्तमान प्रगतिशील एवं विकासोन्मुख विचारवाले साहित्यकारों तथा भाषा-प्रेमियों ने भारत की सामान्य-लिपि के रूप में नागरी लिपियों को स्वीकार करने के उपयोगी एवं महत्त्व पूर्ण प्रस्ताव का दिल से समर्थन भी अवश्य किया है।

लोकगीत और पाट्टुकळ्

मलयालम का प्राचीनतम साहित्य 'लोकगीतों' का माना जाता है। लोकगीतों की भाषा आधुनिक मलयालम से एकदम भिन्न थी। उस समय की भाषा का नाम भी दूसरा था, क्योंकि मलयालम का स्वतंत्र सुन्दर रूप उन गीतों में पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुआ था। उन दिनों की उस भाषा को 'मलयामतमिल' कहते थे। कुछ लोगों का कहना है कि वह तमिल भाषा की एक प्रादेशिक बोली मात्र थी। लेकिन वास्तव में 'मलयाम-तमिल' में रचे उन प्राचीन गीतों में तमिल भाषा से बहुत कुछ भिन्न एक स्वतंत्र प्रकार की बोली का विकासोन्मुख रूप अवश्य प्राप्त होता है, जिसका नाम ही आगे चलकर मलयालम पड़ा था। अतः उन लोकगीतों को यदि मलयालम के प्रेमी ऐतिहासिक विद्वान मलायलम की प्राचीन सम्पत्ति बताते हैं तो तमिल के अनन्य आराधक उन्हें अपनी भाषा की पुरानी पूँजी मानने का दावा भी अवश्य करते हैं। वे लोकगीत तत्कालीन किसान रमणियों के गाने के लिए रचे गये थे जिनमें केरल के प्रकृति-सौन्दर्य, प्रेम, विरह, विनोद आदि के मनोज्ञ एवं मधुर वर्णन मिलते हैं। लेकिन उन गीतों का कोई अच्छा प्रामाणिक संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। केवल देहाती लोग उन्हें गाया करते हैं।

उपर्युक्त लोकगीतों के बाद मलयालम में "पाट्टुकळ्" नामक विशेष प्रकार का साहित्य मिलता है। तत्कालीन लोगों

को आनन्द प्रदान करने तथा सत्प्रेरणा देने के उद्देश्य से विविध विषयों पर रचे खास प्रकार के गानों को "पाट्टुकळ्" कहते हैं। उन गानों में देवों की कथाएँ, वीर पुरुषों की जीवनियाँ, विनोद भरी सामयिक बातें, भगवान की स्तुति, देशभक्ति, बेकारी, गरीबी आदि विविध विषय वर्णित हैं। मलयालम भाषा का स्वतंत्र रूप सबसे पहले उन्हीं "पाट्टुकळ्" नामक रचनाओं में ही प्रकट हुआ है जो तमिल से थोड़ा-बहुत प्रभावित होने पर भी उससे बिलकुल भिन्न अवश्य है। उस समय की मलयालम में सर्वनाम, विशेषण, क्रियाओं के रूपान्तर, विभक्तियाँ, कारक, प्रत्यय, क्रिया-विशेषण आदि करीब आधुनिक मलयालम के अनुरूप ही पाये जाते हैं। अतएव "पाट्टुकळ्" को मलयालम साहित्य की सम्पत्ति मानने में कहीं किसी प्रकार का विरोध होना संभव नहीं है।

ये "पाट्टुकळ्" कई प्रकार के मिलते हैं। उनमें देवियों को प्रसन्न करने के लिए रचे मनोरंजन के गाने ज़्यादा हैं जिनमें काम, रति, वसन्त, नख-शिख आदि शृंगार-रस-प्रधान विषय वर्णित हैं। पौराणिक कथाओं पर निर्मित गाने भी कम नहीं हैं। उनमें सुरों और असुरों के बीच के युद्ध, शिव और पार्वती की तपस्या, काम-दहन, देवी भद्रकाली की असुर-संहार-लीला, हरिहरपुत्र अथवा शास्ता या अय्यप्पन की कथा, राम-कथा, आदि रोचक कहानियाँ मिलती हैं। इनके अलावा देश की सामाजिक एवं सामयिक प्रथाओं के विषय में लिखे "पाट्टुकळ्"

भी बहुत हैं। उनमें उस ज़माने के विवाह, पुत्रजन्म, व्यायाम, मृत्यु आदि प्रसंगों का सरस वर्णन मिलता है। उन दिनों के पच्चासों गीत-काव्यों में 'वटक्कन् पाट्टुकळ्', 'तॅक्कनपाट्टुकळ्', और 'रामचरित' नामक तीन संग्रह-ग्रन्थों का स्थान अधिक श्रेष्ठ माना जाता है।

सन्देश-काव्य

मलयालम साहित्य में उपर्युक्त "पाट्टुकळ्" के बाद "सन्देश-काव्य", "चम्पू काव्य" तथा "कृष्ण गाथा-काव्य" इन तीनों प्रकार के काव्यों का नया युग आरंभ होता है। उस नवीन युग में भाषा का रूप भी काफ़ी परिवर्तित हो गया। भाषा में "मणिप्रवाळम्" नामक एक नयी शैली प्रचलित हो उठी। "मणिप्रवाळम्" शैली में संस्कृत शब्दों के रत्नों (मणियों) के साथ देशी शब्दों के प्रवालों को जोड़कर प्रयोग करने का क्रम रहता है। आधुनिक मलयालम में मणिप्रवाळम शैली ही प्रचलित है जिससे केरल के लोगों को संस्कृत का काफी अच्छा ज्ञान आसानी से प्राप्त होता है।

"मणिप्रवाळम" शैली में लिखे सन्देश-काव्य बहुत मिलते हैं। संस्कृत साहित्य के "मेघदूत" के समान मलयालम में "उण्णुनीलि-संदेश", "कोक-संदेश", "उण्णियच्चिचरुतेवि-चरितम्", "उण्णियाटिचरितम्" आदि प्राचीन संदेश-काव्य उत्तम ग्रन्थ माने जाते हैं। सन्देश-काव्यों के साथ उन दिनों में

प्रबन्ध-काव्यों की रचना भी होती थी। "कण्णश रामायणम्" उन्हीं दिनों का एक श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य है। "रामायणम्" के अलावा भागवत, शिवरात्रि महिमा, भारत, पद्मपुराण आदि ग्रन्थ भी उस युग में निर्मित हुए हैं जिनका महत्व कम नहीं है।

चम्पू काव्य-और कृष्णगाथा

मलयालम के "चम्पू-काव्य" केवल गद्य-पद्यात्मक रचनाएँ ही नहीं, बल्कि भाषा की दृष्टि से संस्कृत और मलयालम के मिश्रित काव्य भी हैं। उनमें ऐतिहासिक एवं पौराणिक घटनाओं के वर्णनों के साथ सामान्य लोगों के जीवन की समस्याओं की सुन्दर झाँकी भी मिलती है। केरल के लोगों की हास्य-रस-प्रधान सरस उक्तियाँ उनमें यथेष्ट प्राप्त होती हैं जिनसे उन दिनों के देश की विविध परिस्थितियों का सामान्य परिचय पाठकों को आसानी से प्राप्त होता है। ऐसे चम्पू-काव्यों में एक प्रसिद्ध कवि "पुनम् नम्पूतिरी" का लिखा "रामायणम्-चम्पू" ही सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। उसमें रावण का जन्म, राम का अवतार, ताटका का वध, अहल्या-मोक्ष आदि प्रसंगों से लेकर रामचन्द्र के स्वर्गारोहण तक की कथा का पूरा वर्णन मिलता है। उस ग्रन्थ का आधार वाल्मीकि-रामायण ही है। लेकिन "पुनम् नम्पूतिरी" ने अपनी कल्पना और प्रतिभा के अनुकूल कथा के प्रसंगों का वर्णन काफी हेरफेर के साथ मौलिक ढंग से किया है। "रामायणम् चम्पू" के अलावा "काम दहनम्", "रावण विजयम्", "उमा तपस्या",

'पारिजातहरणम्' 'नैषधम्', 'राज रत्नावलीयम्' आदि अन्य कई चम्पू-ग्रन्थों के नाम भी अवश्य उल्लेखनीय हैं। इन तमाम ग्रन्थों की भाषा 'मणिप्रवाळम' शैली की है और इनमें शुद्ध संस्कृत में लिखे प्रसंग भी काफी मिलते हैं।

उस युग में चम्पू-ग्रन्थों की अपेक्षा 'कृष्ण-गाथा-काव्य' ही अधिक लोकप्रिय बन गया था, क्योंकि उसके कवि 'चेरुश्शेरी नम्पूतिरी' ने अपने काव्य में तत्कालीन साधारण जनता में प्रचलित भाषा का ही प्रयोग करके उसको अधिक सरल एवं मार्मिक बनाया था। भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर उन्होंने मलयालम में जो 'कृष्ण-गाथा-काव्य' रचा है वह हिन्दी के सूरदास के 'सूरसागर' से भी बढ़कर श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि एक प्रबन्ध-काव्य के तमाम गुण भी उसमें मिलते हैं। 'कृष्ण-गाथा' के समान 'भारत-गाथा', 'भागवतम् पाट्टु', 'सेतुबन्धनम् पाट्टु' आदि रचनाएँ भी उस युग की बहुमूल्य देन हैं।

स्वर्णयुग

मलयालम साहित्य का स्वर्णयुग महाकवि "तुंचत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन" अथवा "तुंचन्" के समय से प्रारंभ होता है। "एषुत्तच्छन" का संकेतार्थ गुरु अथवा आचार्य है क्योंकि 'एषुत्तु' माने 'लेख' और 'अच्छन' माने 'पिता' अर्थात् 'शिक्षा देनेवाले पिता' या 'गुरु' के अर्थ में ही 'एषुत्तच्छन'

का प्रयोग किया गया है। वास्तव में मलयालम की वर्णमाला, लिपियों और भाषा के प्रयोगों की नवीन शैली आदि के जन्मदाता एवं प्रचरक महाकवि 'तुंचन्' ही थे। उनकी प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचना 'अध्यात्म रामायण' नामक प्रबन्ध काव्य है। इस काव्य को मलयालम में "एषुत्तच्छन-रामायणम" भी कहा करते हैं। उनकी रामायण का पाठ केरल के प्रत्येक घर में बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ किया जाता है। वे परम भक्त और सदाचारी विद्वान थे। उनकी दृष्टि में राम, कृष्ण, शिव, ब्रह्मा आदि सब देवता समान थे। सब की आराधना और प्रशंसा उन्होंने अपने काव्यों में अवश्य की है। वे बड़े दार्शनिक और स्वतंत्र विचारक थे। उनके रचे अनेक काव्यों में 'रामायणम्', 'भारतम्', 'श्रीमद्भागवतम्', 'चिन्तारत्नम्', 'हरिनाम कीर्तनम्', 'ब्रह्माण्ड पुराणम्', 'देवी महात्म्यम्' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।

महाकवि 'तुंचन्' ने एक नवीन पद्य शैली 'किळि-प्पाट्टु' (शुकगीत) नाम से प्रचलित की थी जिसका अनुकरण करते हुए तत्कालीन तथा बाद के बहुत से कवियों ने असंख्य काव्य रचे हैं जिनकी एक सामान्य सूची मात्र देना भी यहाँ संभव नहीं है। आजकल के कितने ही उदीयमान् कवि 'किळिप्पाट्टु' शैली में कविताएँ किया करते हैं। 'किळिप्पाट्टु' के भी कई भेद और उपभेद पाये जाते हैं जिन सब के जन्मदाता 'तुंचन्'

ही माने जाते हैं। मलयालम के पद्य साहित्य में 'तुंचन्' का जो स्थान है उसकी बराबरी करनेवाले दूसरे कवि शायद ही मिलते हैं।

महाकवि 'तुंचन्' के समकालीन कवियों में 'पूंतानम् नम्पूतिरि' नामक एक कृष्णभक्त कवि भी मिलते हैं, जो हिन्दी के सूरदास और अष्टछाप के कवियों की तरह कृष्ण-भक्तिपूर्ण रचनाएँ करके मलयालम के साहित्य को सम्पन्न बनाने में सफल हुए हैं। वे सारे जगत् को गोपालकृष्णमय मानते थे। कृष्ण भगवान् की स्तुति करना ही उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य था। उनकी रचनाओं में 'श्रीकृष्ण कर्णामृतम्', 'सन्तान गोपालम्', 'पार्थसारथी स्तव', 'कृष्णलीला', 'ज्ञानप्पाना' आदि महत्व-पूर्ण काव्य हैं।

कथकळि साहित्य

मलयालम के साहित्य में 'कथकळि-साहित्य' का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। 'कथकळि' एक विशिष्ट 'नृत्यकलात्मक नाटकाभिनय-प्रणाली' है जिसमें अभिनय, नृत्य और संगीत इन तीनों का सुन्दर समावेश है। 'कथकळि' का साहित्य अत्यन्त श्रेष्ठ है। 'कथकळि' के प्रबन्ध एवं नाट्य-काव्य उच्च कोटि के होते हैं। वे प्रायः पौराणिक आख्यानों को लेकर लिखे हुए नाट्य-काव्य हैं जिनमें गीतों, दण्डकों, पदों तथा श्लोकों के ज़रिये कथोपकथन का कार्य सम्पन्न किया जाता है।

उन काव्यों के पद, श्लोक, गीत आदि अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं मार्मिक ढंग से गाये जाते हैं। उनकी भाषा संस्कृत-मिश्रित मलयालम अर्थात् 'मणिप्रवाळम्' शैली की है। बीच-बीच में शुद्ध संस्कृत के श्लोक और कीर्तन भी पाये जाते हैं। कथकळि-काव्यों की कविताएँ प्रायः अनुप्रासयुक्त एवं प्रसादगुण-विशिष्ट होती हैं। प्रसंगानुकूल ओज और माधुर्यपूर्ण रचनाएँ भी उनमें कम नहीं है।

'कथकळि-साहित्य' के सबसे प्राचीन कवि 'कोट्टारक्करा' के एक राजा माने जाते हैं। उनके ग्रन्थ में रामायण की पूरी कथा का वर्णन मिलता है। उस प्रबन्ध-काव्य का पूरा अभिनय करने के लिए कम से कम आठ रातों का समय आवश्यक है। इस साहित्य-शाखा के प्रमुख प्राचीन कवियों में 'कोट्टयत्तु केरल वर्मा राजा', 'तिरुवितांकूर के धर्मराजा', 'अश्विनी नक्षत्रजराजा,', 'उण्णायि वारियर', 'इरयिम्मन तंपि' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कथकळि-काव्यों में 'बकवधम्', 'सुभद्राहरणम्', 'नळचरितम्', 'बाण-युद्धम्', 'दक्ष यागम्' 'अंबरीषचरितम्' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय ग्रन्थ हैं।

तुळ्ळल-साहित्य

कथकळि-साहित्य की तरह 'तुळ्ळल्-साहित्य' भी मलयालम का एक विशिष्ट प्रकार का 'नृत्यकलात्मक पद्य-

साहित्य' है। इस नवीन शाखा के जन्मदाता महाकवि 'तुंचन्' की तरह एक दूसरे प्रसिद्ध कवि 'कुंचन् नंबियार' हैं। महाकवि 'कुंचन' हास्य-रस के सबसे श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं जिन्होंने 'तुळ्ळल् पाट्टु' नामक एक 'नृत्मकलात्मक कथा-प्रवचन-पद्धति' को जन्म दिया था और अपने ही समय में केरल की जनता के बीच में उसका खूब प्रचार भी किया था। 'तुळ्ळल् पाट्टु' एक प्रकार की पद्य-शैली है। केरल के मंदिरों में उत्सव के अवसर पर अपनी विशेष प्रकार की वेश-भूषाओं के साथ एक नट दर्शकों के बीच में मंच पर खड़ा होकर गाते हुए अभिनय के साथ पद्यात्मक भाषा में किसी पौराणिक कथा का प्रवचन देता है। उस समय उसके गाने 'तुळ्ळल् पाट्टु' की शैली में गाये जाते हैं। बताया जाता है कि इस प्रकार के कथा-प्रवचन का श्रीगणेश महाकवि कुंचन के प्रयत्न से ही हुआ है और उन्होंने स्वयं उसके लिए बीसों काव्य रचे थे, नट के लिए उपयुक्त वेशभूषाओं का निश्चय किया था तथा अनुकूल बाजे, गायक आदि की व्यवस्था भी की थी। 'तुळ्ळल् कळि' नाम से यह 'नृत्यकलात्मक कथा-प्रवचन' इस जमाने में भी केरल में सर्वत्र, विशेष रूप से मंदिरों में बहुत प्रचलित है।

'तुळ्ळल् कथा-साहित्य' में अनेक उच्च कोटि के प्रबन्ध-काव्य मिलते हैं। महाकवि कुंचन के प्रमुख काव्यों में इरुपत्तिनालु वृत्तम् (चौबीस काव्यों का संग्रह), पतिनालु वृत्तम्

(चौदह काव्यों का संग्रह), शीलावती, नळ चरितम्, शिव-पुराणम्, विष्णुगीता, भागवतम्, भगवद्दूत आदि अत्यन्त प्रसिद्ध माने जाते हैं। उनका एक श्रेष्ठ मणिप्रवाळ महाकाव्य 'श्रीकृष्ण-चरितम्' हिन्दी के 'प्रिय-प्रवास' और 'कृष्णायन' नामक काव्यों के बराबर श्रेष्ठ और सरल रचना है। उनके कुल साठ के करीब काव्य अभी तक उपलब्ध हुए हैं। पौराणिक कथाओं के प्रवचन के बहाने वे समाज-सुधार का कार्य करने में अतीव सफल हुए थे। उनकी रचनाओं में सामयिक बातों तथा अधिकारी शासकों के विषय में प्रसंगानुकूल चर्चा, व्यंग्यपूर्ण परिहास और आलोचना मिलती है। महाकवि कुंचन ने अपने काव्यों के द्वारा केरल के ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सभी जातियों के लोगों के जीवन की व्यंग्यपूर्ण आलोचना की है और उनके बीच में प्रचलित कई कुरीतियों तथा मिथ्याचारों की खूब निन्दा की है। उनकी निन्दा के वचन भी सबको मीठे लगते हैं क्योंकि वे हँसी-मज़ाक में सब कुछ प्रकट करने में विशेष सफल हुए हैं। अतः उन्होंने जो सत्य कहा है वह प्रिय बनाकर मीठे व्यंग्यपूर्ण ढंग से ही व्यक्त किया है जिससे उसकी कटुता कहीं किसीको असह्य नहीं प्रतीत होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईसा की अठारहवीं सदी में तुळ्ळल् कथा-साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति करने में महाकवि कुंचन् तथा उनके कई शिष्य संपूर्ण रूप से सफल निकले हैं।

वंचि पाट्टुकळ्

'तुळ्ळल् पाट्टुकळ्' के बराबर मलयालम में 'वंचि पाट्टुकळ्' का स्थान भी ऊँचा माना जाता है। किश्ती या नाव चलाते समय के खास प्रकार के गानों को 'वंचि पाट्टु' कहते हैं वंचिप्पाट्टु की रीति और गति विशेष प्रकार की होती है। कहा जाता है कि 'रामपुरत्तु वारियर' नामक एक गरीब कवि ने 'वंचि पाट्टु' की नयी रीति की कविताओं को सब से पहले जन्म दिया था। इसलिए 'वंचि पाट्टु' के जन्मदाता के रूप में 'वारियर' का नाम ही साहित्य में लिया जाता है। उनका प्रथम काव्य 'कुचेलवृत्तम्', अर्थात् 'सुदामाचरितम्' बहुत प्रसिद्ध है। मलयालम में वारियर की नयी शैली की कविताओं का अनुकरण करनेवाले बहुत से श्रेष्ठ कवि मिलते हैं। यद्यपि उनकी रचनाएँ ज़्यादा मुक्तक हैं तो भी प्रबंध-काव्य भी कम नहीं हैं।

प्राचीन काल से लेकर ईसा की अठारहवीं सदी अथवा उन्नीसवीं सदी के आरंभ काल तक मलयालम में केवल पद्य-साहित्य की उन्नति ही अधिक हुई थी। पुराने ज़माने में मलयालम में गद्य का प्रयोग शिला-लेखों और राज-शासन-सम्बन्धी अभिलेखों में थोड़ा बहुत होता था। लेकिन उन्नीसवीं सदी में गद्य-साहित्य का विकास भी धीरे-धीरे होने लगा। केरल की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों के कारण गद्य के विकास की अनिवार्य आवश्यकता भी आ पड़ी थी।

अंग्रेजों के शासन-काल में प्राय: भारत की सभी देशी भाषाओं में गद्य-साहित्य का विकास बहुत शीघ्र होने लगा। मलयालम की हालत भी वैसी ही थी। ईसाई धर्म के अनेक प्रचारकों के कारण हमारे देश के साहित्य में गद्य का उपयोग बढ़ने लगा और उसके अनुसार रचनओं की संख्या भी अधिक होने लगी। यहाँ तक कि प्रथम मलयालम कोष के लेखक डा० गुण्डर्ट नामक जर्मनी के एक विदेशी सज्जन ने मलयालम भाषा सीखनें के लिये उपयोगी पाठ्य-पुस्तकों, व्याकरण-ग्रन्थ आदि की रचना करके पर्याप्त यश कमा लिया है। वास्तव में, गुण्डर्ट की साहित्य-सेवाएँ प्रशंसनीय हुई हैं। उनके लिखे कोष में शब्दों की उत्पत्ति, अर्थ-भेद, व्यंग्यार्थ, उच्चारण की रीति आदि विविध बातों पर प्रकाश डाला गया है। मलयालम की प्राचीन कृतियों का अध्ययन करने के लिए गुण्डर्ट का कोष बहुत उपयोगी है।

गद्य-साहित्य का निर्माण

मलयालम के गद्य-साहित्य में सबसे पहले पाठ्य-पुस्तकों की बारी ही आती है। आरंभ के कई ईसाई पण्डितों ने इस उपयोगी कार्य में थोड़ी-बहुत सफलता अवश्य पायी है। लेकिन 'केरल वर्मा वलिय कोयित्तम्पुरान' और उनके भानजे 'राजराज वर्मा कोयित्तम्पुरान' के प्रयत्न से मलयालम में जो पाठ्य-पुस्तकें लिखी गयी थीं उनकी बराबरी करनेवाली रचनाएँ

शायद ही किसी भाषा में उस समय अन्यत्र प्रकाशित हुई होंगी। वे दोनों राज-परिवार के प्रतिष्ठित विद्वान थे, जो अच्छे कवि और साहित्यकार भी थे। हिन्दी के राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद गुप्त के बराबर मलयालम के अभिनव साहित्य के निर्माताओं में ये दोनों कोयित्तम्पुरान अत्यन्त आदरणीय साहित्य-सेवी माने जाते हैं। उन्होंने अथक परिश्रम करके गद्य-साहित्य की बड़ी उन्नति की है। उनमें राजराज वर्मा ने स्वयं पाठ्य-पुस्तकों के अलावा अच्छे-अच्छे रीति-ग्रन्थ, व्याकरण आदि की रचना भी की है। उनके लिखे लक्षणग्रन्थों में 'साहित्य-साह्यम्,' 'मध्यमव्याकरणम्', 'वृत्त मंजरी', 'भाषाभूषणम्', 'केरल पाणिनीयम्' आदि अत्यन्त प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती हैं। केरल वर्मा ने 'अकबर' नामक एक उपन्यास भी लिखा है। 'विज्ञान मंजरी' और 'महच्चरित्तम्' उनकी दूसरी श्रेष्ठ गद्य रचनाएँ हैं। वे गद्य की अपेक्षा पद्य ज़्यादा लिखते थे। उनके काव्यों में 'पद्मनाभ पद-पद्म शतकम्', 'मयूर सन्देशम्', 'अभिज्ञान शाकुन्तळम्', नाटक (अनुवाद) 'ध्रुवचरितम्', 'हनुमदुत्सवम्' आदि बहुत श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध माने जाते हैं। उन दोनों कोयितम्पुरानों की प्रेरणा से कितने ही गद्य-लेखक तथा कवि मलयालम साहित्य की उन्नति करने में तत्पर होने लगे। उन सबके अथक प्रयत्न से ही आधुनिक काल में मलयालम साहित्य की सर्वतो-मुखी उन्नति हो रही है।

जैसे हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल भारतेन्दु से शुरू होता है वैसे मलयालम में उपर्युक्त दोनों 'कोयित्तम्पुरानों' से आधुनिक पद्य और गद्य साहित्य का आरंभ होता है। वे आधुनिक युग के पथप्रदर्शक एवं प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके समकालीन कवियों में के. सी. केशव पिल्ला, कोट्टुंगल्लूर कुंजिकुट्टन तम्पुरान, चात्तुकुट्टि मन्नाटियार, पन्तलम् केरल वर्मा, नट्टुवम् नम्पूतिरी, कुण्टूर नारायण मेनोन आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में कई महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास और कहानियाँ भी मिलती हैं जिन सबके नामों की सूची मात्र यहाँ देना बिलकुल अनावश्यक प्रतीत होता है।

आधुनिक पद्य-साहित्य

आधुनिक पद्य-साहित्य की नवीन धारा के अग्रदूतों के रूप में कुमारन आशान, वळ्ळत्तोल और उळ्ळूर के नाम लिये जाते हैं। ये तीनों महाकवि इस समय जीवित नहीं हैं। इनमें कुमारनआशान मलयालम के दुःखवादी दार्शनिक कवि हैं। उनकी कविता में वेदना और निराशा की मार्मिक गूंज है। वे बड़े तत्वान्वेषी जीवनदर्शी कवि रहे थे। अतः उनकी रचनाएँ दार्शनिक और आदर्श-प्रधान हैं। वे समाज-सुधारक, क्रान्तिकारी और प्रगतिशील कवि थे। उन्होंने अछूतों की दयनीय दुर्दशा पर मार्मिक प्रकाश डालते हुए 'चण्डाल भिक्षुकि' नामक खण्डकाव्य लिखा है। इसके अलावा 'बुद्धचरितम्', 'वीणपूवु', 'नलिनी',

'चिन्तामग्ना सीता', 'लीला', 'करुणा' आदि बीसों उत्कृष्ट काव्य भी लिखे हैं।

वळ्ळत्तोल नारायण मेनोन मलयालम के राष्ट्रीय कवि माने जाते हैं। समाज और राष्ट्र की नवीन प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब उनकी रचनाओं पर पड़ा है। वे गांधीजी के बड़े भक्त थे। इसी प्रकार साम्यवादी रूस के आराधक भी थे। 'चित्रयोगम्' उनका लिखा महाकाव्य है। 'बधिर विलापम्', 'कोच्चु सीता', 'मग्दलन मरियम्', 'शिष्यनुम् मकनुम्', 'गणपति' आदि उनके मुख्य खण्डकाव्य हैं। 'साहित्य मंजरी' नामक आठ भागों में उनकी विविध विषयों पर लिखी फुटकर कविताएँ संग्रहीत हैं।

उळ्ळूर परमेश्वरय्यर बड़े ही विचक्षण पंडित और प्रतिभा-संपन्न कवि थे। उनकी रचनाएँ पाण्डित्यपूर्ण होने के कारण ज़्यादा विद्वानों के बीच में ही विशेष समादर प्राप्त कर सकी हैं। 'उमाकेरलम्' उनका एक ऐतिहासिक महाकाव्य है वंचीशगीति', 'मंगल मंजरी', 'पिंगला', 'हृदय कौमुदी', 'कर्ण भूषणम्', 'किरणावलि', 'काव्य चन्द्रिका', आदि उनके मुख्य खण्ड-काव्य और पद्य-संग्रह हैं। उळ्ळूर ने पद्य की तरह गद्य में भी कई श्रेष्ठ रचनाएँ की हैं जिनमें 'विज्ञान-दीपिका' उनके विद्वत्तापूर्ण निबन्धों का संग्रह है। उन्होंने मलयालम के कई प्राचीन काव्यों और कृतियों की खोज कर उन्हें प्रकाशित किया है और उनकी भूमिका और टीकाएँ भी

लिखीं हैं। मलयालम साहित्य का एक प्रामाणिक बृहत् इतिहास भी उन्होंने आठ भागों में लिखा है।

मलयालम के आधुनिक जीवित कवियों में जी. शंकर कुरुप बड़े प्रगतिशील और छायावादी कवि हैं। ये केरल के नवयुवकों के सबसे प्रिय कवि माने जाते हैं। उनके विचार और आदर्श आधुनिक युग के अनुकूल एवं क्रान्तिकारी हैं। दलित मानवता की पुकार और ललकार उनकी कविता के शब्दों में गूँज उठती है। उन्होंने 'साहित्य-कौतुकम्' नामक चार-पाँच संग्रहों में अपनी सैकड़ों फुटकल कविताओं को प्रकाशित किया है। 'स्वप्नसौधम्', 'सूर्यकान्ति', 'नवातिथि', 'संध्या', आदि उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। रवि बाबू की गीतांजलि का पद्यानुवाद भी उन्होंने किया है। उनके 'ओटक्कुषल्' नामक काव्य-संग्रह को भारतीय ज्ञान-पीठ का प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। उसका हिन्दी में अनुवाद भी प्रकाशित हो गया है।

कोमल-कान्त पदावलियों में मधुर मार्मिक गीत रचनेवाले भावुक कवि 'चंगंपुषा' कृष्ण पिल्लै मलयालम के दुःखवादी कवियों में सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। जीवन की निराशा, प्रेम की पीड़ा, गरीबी और बेकारी की यातना, समाज के अत्याचार, क्रान्ति के स्वप्न आदि विषयों पर उन्होंने बहुत-सी सुन्दर मार्मिक रचनाएँ की हैं। उनकी रचनाओं का बेहद प्रचार केरल के अपढ़ मज़दूरों व देहातियों के बीच में भी हुआ है। 'रमणन्'

नामक उनका जो 'गीति नाटिका' अथवा खण्डकाव्य है, उसके बीसों संस्करण अभी निकले हैं। 'देवता', 'आराधकन' 'वाष्पांजलि', 'हेमन्तचन्द्रिका', 'उद्यानलक्ष्मी', 'सुधांगदा', आदि उनके प्रमुख खण्डकाव्य और कविता-संग्रह हैं। वे केरल के सबसे लोकप्रिय कवि माने जाते हैं। लेकिन पैंतीस वर्ष की अल्पायु में ही उनका स्वर्गवास हो गया था।

मलयालम के आधुनिक पद्य-साहित्य में ऐसे अनेक उदीयमान प्रतिभासंपन्न कवि हैं जो अपनी अमूल्य, सुन्दर, भावपूर्ण, क्रान्तिकारी एवं मधुरतम कविताओं से साहित्य की श्रीवृद्धि निरन्तर करते रहते हैं। उनमें नालप्पाट्टु बालामणि अम्मा और नारायण मेनोन, के. के. राजा, कुट्टिटप्पुरत्तु केशवन नायर, वेण्णिक्कुलम् गोपाल कुरुप, वैलोपल्लि श्रीधर मेनोन, ओळप्पमण्ण, पी. भास्करन्, एन. वी. कृष्ण वारियर, पाला नारायणन नायर्, वयलार रामवर्मा, पी. कुञ्ञिरामन नायर, आदि कई प्रमुख कवियों के नाम विशष उल्लेखनीय हैं। इनमें श्री बालामणि अम्मा और वैलोप्पिल्लि श्रीधर मेनोन को साहित्य एकादमी का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ है।

उपन्यास-साहित्य

मलयालम के गद्य-साहित्य में उपन्यास, गद्य-काव्य, नाटक, एकांकी, कहानी, जीवनी, निबन्ध, आलोचना आदि सब प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत, अंग्रेजी और बंगला के उपन्यासों तथा आख्यायिकाओं

का प्रभाव मलयालम पर खूब पड़ा है। अंग्रेजी और बँगला के उत्तम उपन्यासों का अनुवाद मलयालम् में काफी हो चुका है। उनके प्रभाव में पड़कर कई स्वतंत्र मौलिक उपन्यासों की रचना भी हुई है। उपन्यास-लेखकों में सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'कुन्दलता' के रचयिता 'अप्पु नेटुंगाडी' माने जाते हैं। चन्तुमेनन के 'शारदा' और 'इन्दुलेखा', सी. वी. रामन पिल्लै के 'मार्ताण्ड वर्मा', 'रामराज बहादुर', 'धर्मराजा', 'प्रेमामृतम्', टी. के. वेलुपिल्लै के 'हेमलता', सरदार के. एम. पणिक्कर 'परंकिप्पटयालि', 'पुणारकोट्टु स्वरूपम्', 'केरल सिंहम्', एन. के. कृष्णपिल्लै के 'कनक मंगलम्', नारायण गुरुक्कल के 'सत्यग्राही', रामकृष्ण पिल्लै के 'पारप्पुरम्', गोपिनाथन नायर के 'सुधा' आदि सैकड़ों उपन्यास ज़रूर उच्च कोटि के हैं। आधुनिक युग के प्रगतिशील उपन्यास लेखकों में तकषि, पोट्टकट्टु, उरूब, एम. टी. वासुदेवन नायर, मलयाट्टूर रामकृष्णन, जोसफ, मोहम्मद आदि बीसों लेखक विश्वविख्यात भी हो चुके हैं। अतः अब मलयालम में उपन्यास-साहित्य की ईर्ष्याजनक उन्नति अवश्य हो रही है 'चेम्मीन' नामक तकषि के लिखे मौलिक उपन्यास को सरकार से पाँच हज़ार रुपये का पुरस्कार भी दिया गया है।

कहानी-साहित्य

कहानी-साहित्य का भी अच्छा विकास मलयालम में हो रहा है। सैकड़ों श्रेष्ठ कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्राय: सभी उपन्यास-लेखकों ने कहानियाँ भी लिखी हैं। उनके अलावा पोनकुन्नम् वर्की, पोट्टक्काट्टु, मुहम्मद बशीर, कारूर, कोवूर, तकषि, सरस्वती अम्मा, ललिताम्बिका अन्तर्जनम्, केशव देव, के. टी. मुहम्मद, पी. सी. कुट्टिकृष्णन् आदि सैकड़ों कहानी-लेखकों के नाम भी उल्लेखनीय हैं। त्रिविध लेखकों की कहानियों का 'तिरञ्ञॅटुत्त कथकळ्' नाम से कई श्रेष्ठ संग्रह मलयालम में बराबर अब प्रकाशित हो रहे हैं जो सर्वथा भारत की सभी देशी भाषाओं के साहित्यकारों के लिए भी अनुकरणीय है।

नाटक और एकांकी

नाटक और एकांकियों का साहित्य भी मलयालम् में काफी उन्नति कर रहा है। स्वर्गीय श्री के. सी. केशव पिल्लै और ई. वी. कृष्ण पिल्लै ने नाटक साहित्य के विकास में सराहनीय काम किया है। पुराने संस्कृत एवं तमिल नाटकों के अनुवाद के बाद स्वतंत्र मौलिक नाटकों की रचना करने का क्षेत्र उन्हीं के कारण सुगम हो गया है। 'शाकुन्तलम्', 'मालविकाग्निमित्रम्', 'चारुदत्तन्', जैसे पद्यमय अनूदित नाटकों के बाद ई. वी. कृष्ण पिल्लै के गद्य नाटकों ने विशेष लोकप्रियता पायी। रंगमंच की दृष्टि से उनके नाटक अत्यधिक सफल हुए। 'सीता देवी', 'इरविक्कुट्टि पिल्लै', 'राजा केशवदास', 'बि. ए. मायावी', 'पेण्णरशुनाट्टु', आदि उनके लोकप्रिय नाटक हैं। कैनिक्करा कुमार पिल्लै और पद्मनाभ

पल्लै, सी. माधवन पिल्लै, टी. एन. गोपीनाथन नायर, एन. पी. चेल्लप्पन नायर, वी. टी. भट्टतिरि, के. रामकृष्ण पिल्लै, के. टी. मुहम्मद, एन. कृष्ण पिल्लै, कप्पन कृष्ण मेनोन, पी. भास्कर, जी. विवेकानन्द, अटूर भासी, आदि कई सज्जन आधुनिक युग के प्रमुख नाटककार हैं। आर. सी. शर्मा, उण्णिकृष्णन नायर, रविवर्मा, जैसे कुछ लेखकों ने बंगला के डी. एल. राय, गिरीश घोष, रविबाबू आदि के नाटकों का अनुवाद भी मलयालम में किया है। मलयालम का आधुनिक रंगमंच और नाटक-साहित्य बराबर प्रगतिशील और विकासोन्मुख हो रहे हैं।

साहित्य की अन्य शाखाएँ

गद्य-काव्यों का भी अच्छा विकास मलयालम में हुआ है। पी. कुञ्ञुरामन नायर, ललिताम्बिक अन्तर्जनम्, गोपीनाथन नायर, कैनिक्करा कुमार पिल्लै और पद्मनाभ पिल्लै इस शाखा के प्रमुख लेखक माने जाते हैं। उनके अनुकरण पर बहुत से गद्य-काव्य-लेखक अपनी रचनाओं से साहित्य-भण्डार को बराबर भरपूर बना रहे हैं।

मलयालम में जीवनी, निबन्ध और आलोचना-साहित्य का भी भण्डार बराबर बढ़ता जा रहा है।

मलयालम में कई श्रेष्ठ मासिक-पत्रों के अलावा 'मातृ-भूमि', 'मलयाल मनोरमा', 'मलयाल राज्यम्', 'जनयुगम', 'तनिनिरम्', 'देशाभिमानी', आदि अनेकों दैनिक एवं साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित होते हैं। मलयालम के दैनिक अखबारों की

संख्य इतनी बड़ी होती है कि भारत की अन्य किसी भाषा में शायद ही कहीं उतनी होगी।

संस्कृत और तमिल के भी कई कवि और विद्वान केरल में उत्पन्न हुए थे। यद्यपि उन सबका संक्षिप्त परिचय देना यहाँ बिलकुल संभव नहीं प्रतीत होता है, तो भी केरल के शंकराचार्य, मेल्प्पत्तूर नारायण भट्टतिरी, महाकवि भास, कुमार कवि, इलंको अडिकल, कुलशेखर आळ्वार आदि संस्कृत और तमिल के सुविख्यात कवियों का स्मरण किये बिना रहना सर्वथा अनुचित होगा। अतः इतना ही बताना पर्याप्त है कि संस्कृत के साहित्य ग्रन्थों के अलावा आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, वास्तु-कला, वेदान्त, तन्त्र-मंत्रात्मक विषय आदि पर भी केरल के कई विद्वानों ने सैकडों श्रेष्ठ एवं प्रामाणिक रचनाएँ की हैं। उन सबका परिचय स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं दिया जाता है। तमिळ के 'शिलप्पधिकारम्', 'रामचरितम्' आदि कई काव्य केरलीय कवियों के ही माने जाते हैं। इस प्रकार संस्कृत और तमिल को भी केरल से बहुत सी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं।

कलाएँ

प्राचीन काल से लेकर आज तक वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-कला, नृत्य-कला आदि में भी केरल की जनता सर्वदा अग्रसर रही है। केरल की झोंपड़ी और घर से लेकर महल एवं मन्दिर तक के निर्माण-कार्य में यहाँ के लोगों की किफायत

कला-बोध और प्रयोजनोन्मुख दृष्टिकोण का अच्छा परिचय मिल सकता है। यहाँ के गाँवों के घर सटे हुए और एक दूसरे से मिले-जुले नहीं रहते हैं। वे अलग-अलग अहातों के भीतर बने हुए हैं। प्राय: प्रत्येक घर के चारों तरफ़ के अहाते में कुआँ, तालाब और छोटा सा बगीचा अवश्य रहता है। घर छोटा होने पर भी सुन्दर और हवादार रहे, इस ओर यहाँ के लोग जरूर ध्यान देते हैं। पहले घरों के निर्माण में लकड़ी अधिक काम में लाते थे। उन दिनों में लकड़ी की बनी दीवारें और छप्पर तक केरलीय भवनों में विद्यमान थे। झोंपड़ियाँ नारियल के पत्तों की बनी दीवारों और छप्परों से बहुत सुन्दर लगती थीं। आज भी वैसी झोंपड़ियाँ कम नहीं हैं। वास्तुकला की अपेक्षा दारु-कला का विकास ही यहाँ के मन्दिरों और महलों में उपलब्ध होता है। पत्थर की और पंच-लोह-निर्मित मूर्तियाँ केरल के मन्दिरों में प्रतिष्ठित हैं, लेकिन दीवारों पर दारु-कला के द्योतक लकड़ी की मूर्तियाँ ही ज्यादा खुदी हुई रहती हैं। काठ के बने छप्पर के निचले भाग में भी सुन्दर मूर्तियाँ खुदी हुई नज़र आती हैं। यह केरलीय वास्तु-कला की विशेषता मानी जा सकती है। अच्छे शिल्पकार की अपेक्षा अच्छे बढ़ई ही केरल में ज़्यादा मिलते हैं। अत: शिल्पकला तमिलनाडु की विशेषता है, तो दारु-कला केरल की आसाधारण विभूति है। हाथी के दान्त, सींग आदि चीज़ों पर की गयी सुन्दरतम कारीगरी देखना हो तो केरल में जाना ज़रूरी है।

केरल के प्राचीन काल के बड़े-बड़े घरों को 'नालुकॅट्टु' और 'ऍट्टुकॅट्टु' कहा जाता था। 'नालुकॅट्टु' में घर के बीच के आंगन के चारों तरफ़ उस घर के 'रसोई-घर', 'स्वागत-कक्षा', 'जनाना घर', 'शयनागार', 'भाण्डार-घर' आदि बनाये जाते थे। वे सब एक दूसरे से सटे हुए रहते थे। कहीं-कहीं किसी विभाग को दुमंजिला भी बनाते थे। लेकिन, घर के बीच में काफ़ी लंबे चौड़े सहन तथा पूरे घर के चारों तरफ़ बड़े अहाते या बगीचे का रहना अत्यन्त आवश्यक माना जाता था। मुख्य घर के अलावा तालाब के तट पर 'कुळप्पुरा' या 'कुळिपुरा' (स्नानागार) और फाटक पर 'पटिप्पुरा' (फाटक-घर) भी बनाने की प्रथा थी। दो 'नालुकॅट्टु' को मिलाकर बनाने से वह बड़ा भवन 'ऍट्टुकॅट्टु' कहा जाता था। सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा के अनुसार घर के सभी स्त्री-पुरुष और बाल-बच्चे एक साथ ही रहा करते थे। अतः उन सब के लिए ऐसे बड़े घरों में काफ़ी सुविधा अवश्य रहती थी। नम्पूतिरियों और प्रतिष्ठित राजाओं के घर प्रायः ऐसे ही ढंग के होते थे। देश के अन्य प्रतिष्ठित नायर, सामन्त आदि लोगों के घर भी ऐसे ही कभी-कभी बनाये जाते थे।

दारु-कला और कारीगरी की तरह चित्र-कला में भी केरल की सभ्यता और संस्कृति के अनेकों सुन्दर प्रदर्शन उपलब्ध हैं। केरल के सामन्तों के महलों में बहुत-से सुन्दर एवं प्राचीन चित्र मिलते हैं। कई मन्दिरों की दीवारों पर अंकित रंगीन

चित्र भी अत्यन्त आकर्षक हैं। किलिमानूर के राजा रविवर्मा केरल के एक ऐसे श्रेष्ठ चित्रकार रहे, जिनको विश्व-विख्याति प्राप्त हुई थी। केरल की नारियों में भी कुशल चित्रकारिणी देवियाँ कम नहीं रही हैं।

संगीत-कला में भी केरल के कई स्त्री-पुरुष विख्यात हुए हैं। अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन करते हुए गाकर दर्शकों और श्रोताओं को अत्यधिक मोहित कर डालनेवाली कई वारांगनाओं की कथाएँ केरल के विविध प्रदेशों में प्रचलित हैं। 'मोहनी-आट्टम' के प्रदर्शन की उन्मत्त कर डालनेवाली अभिव्यक्ति की प्रशंसा केरल के बूढ़े लोग आज भी कभी-कभी किया करते हैं। 'कुरत्ति-पाट्टु', 'कैकोट्टि-कळि-पाट्टु' आदि के संगीतमय नृत्य-कला-प्रदर्शन केरलीय संस्कृति के प्राचीन एवं आकर्षक स्वरूप को अवश्य प्रस्तुत करते हैं। कहा जाता है कि सबसे बढ़कर, केरल की विश्व-विख्यात 'कथकळि' का विशद परिचय पाने से केरलीय कलाओं की श्रेष्ठता का समर्थन किये बिना कोई सहृदय नहीं रह सकेगा। अतः उसका भी संक्षिप्त परिचय अन्यत्र दिया जायगा।

विश्वविख्यात नृत्यकला : कथकळि

‘केरल राज्य’ अपनी विविध कलाओं की वजह से दुनिया में बहुत मशहूर हुआ है। उन कलाओं में ‘कथकळि’ का स्थान सबसे प्रथम कहा जा सकता है। ‘कथकळि’ एक विशिष्ट ‘नृत्यकलात्मक नाटकाभिनय प्रणाली’ है। इसमें अभिनय, नृत्य और संगीत इन तीनों का सुन्दर समावेश है। यह एक प्रकार की ‘संवाद-शून्य एवं अभिनय-प्रधान नाट्य-कला’ है। यद्यपि इसको नाट्यकला के अन्तर्गत मानना ही पड़ता है, तो भी साधारण नाटकों की तरह कथकळि में अभिनय करनेवाले पात्र रंगमंच पर आकर एक दूसरे से वार्तालाप करने के लिए मौखिक एवं श्रव्य भाषा का उपयोग बिलकुल नहीं करते। वे गूंगों की तरह केवल मुख-मुद्राओं, हस्त-मुद्राओं और इशारों के सहारे अपने विचार और भाव एक दूसरे को समझा देने का प्रयत्न करते हैं। दर्शक लोग उन अभिनेताओं का अभिनय देखकर नाटक के प्रत्येक दृश्य की बातें समझ लेते हैं। नटों के इशारों और मुख तथा हाथ के संकेतों का अध्ययन करने में दर्शकों को विशेष तत्पर रहना पड़ता है, तभी वे पूरी

कथा और घटनाओं का व्यक्त परिचय पा सकेंगे। यह विचित्रता ही कथकळि की सबसे बड़ी विशेषता है।

उत्पत्ति-काल

कहा जाता है कि 'कथकळि' से मिलता-जुलता एक प्रकार का खेल पहले तमिलनाडु, कर्नाटक प्रदेश और आन्ध्रप्रदेश में भी 'यक्षगान' नाम से प्रचलित था। कदाचित् कहीं-कहीं उसके नाम में प्रादेशिक कारणों से थोड़ा-बहुत अन्तर रहा होगा। इस समय यह खेल सिर्फ दक्षिण कर्नाटक में कहीं-कहीं खेला जाता है। तमिलनाडु का 'तेरुक्कूत्तु' भी कथकळि से कुछ मिलता-जुलता जरूर है। इसी तरह केरल में पालघाट ज़िले के अन्दर कहीं-कहीं जो 'कंसनाटकम्' और 'मीनाक्षी नाटकम्' खेले जाते हैं वे भी कथकळि से उत्पन्न माने जा सकते हैं। यद्यपि ये सभी खेल एक दूसरे से कई अंशों में समानता रखते हैं, तो भी यह निश्चित रूप से बताना कठिन प्रतीत होता है कि इनमें कौन-सा खेल पहले उत्पन्न हुआ और किससे प्रेरणा लेकर कौन आगे विकसित हो सका। कथकळि के उत्पत्ति-काल के सम्बन्ध में तथा उसके आविर्भाव के कारणों के विषय में कई दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। लेकिन गवेषणा करनेवाले विद्वानों के बीच में यद्यपि इन कथाओं को लेकर काफ़ी वाद-विवाद बराबर चलता रहता है तो भी अब तक निश्चित रूप से कोई मत स्वीकृत नहीं हो सका है। इसलिए

इस छोटे से अध्याय में उन कथाओं का विशेष परिचय देना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है।

रंगमंच

कथकळि का रंगमंच बिलकुल मामूली एवं सादा रहता है। वहाँ प्रत्येक दृश्य दिखाने के लिए अलग-अलग प्रबन्ध नहीं करना पड़ता है। कई प्रकार के पर्दे आदि साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। कथकळि के लिए रंगमंच का विधान करना बहुत ही आसान है, क्योंकि एक छोटा-स पंडाल मात्र सजाना काफी होगा। रंगमंच उसी पंडाल को कहते हैं। वहाँ एक बहुत ही बड़ा भारी देशी चिराग या 'दीपराज' जलाये रखा जाता है। उसमें केवल नारियल का तेल भरा रहता है। दीपक के दोनों तरफ़ कपड़े के टुकड़ों से बनायी बड़ी-बड़ी बत्तियाँ जला देते हैं। उस बड़े दीपक की उज्ज्वल ज्वाला के पीछे खड़े होकर नट अपना अभिनय करते हैं। उन नटों या अभिनेताओं के पीछे बाजे बजानेवालों तथा गायक लोगों को खड़े रहने भर की जगह मिले तो रंगमंच की संपूर्ण व्यवस्था हो जाती है। इसके अलावा दृश्य परिवर्तन और दृश्योद्घाटन आदि के लिए एक पर्दे की जरूरत है जिसको दो आदमी रंगमंच के दोनों तरफ़ खड़े होकर दीपक के पीछे और नटों के सामने पकड़े रहते हैं। रंगमंच पर नटों के आने के पहले ही दो आदमी उस रंग-बिरंगे बेल-बूटेदार पर्दे की दोनों छोर पकड़े चिराग के पीछे खड़े रहते हैं और नट आकर

बाजों के ताल के अनुसार नाचते हुए उसे धीरे-धीरे हटा देते हैं और अपनी वेश-भूषा और चेहरे के भाव-प्रकटन की झांकी दर्शकों को बड़े कलात्मक ढंग से दिखा देते हैं। इस पर्दे के हटाने के पहले के नृत्य और अभिनय में नटों को अपनी मौलिकता दिखाने की स्वतन्त्रता दी जाती है। वे अपने-अपने ढंग से स्वतन्त्र नृत्य और अभिनय अवश्य दिखाते हैं जिसका विशेष सम्बन्ध कथा के साथ होना अनिवार्य नहीं माना जाता है। इसे 'रंगप्रवेश' कह सकते हैं। उसके बाद ही नटों को अपना निश्चित भाग अभिनय करना होगा, जिसका संबन्ध कथा के साथ अवश्य रहेगा। साधारणत: कथकळि के रंगमंच पर चटाई ही बिछायी जाती है जिसपर खड़े होकर या बैठे हुए नट अपना अभिनय दिखाते हैं। कभी-कभी एक छोटी-सी बैठने की बेंच या तिपाई भी इस्तेमाल करते हैं। कुर्सी, चारपाई आदि की आवश्यकता ही नहीं रहती।

पुरुष-पात्रों का वेश-विधान

कथकळि के अभिनेता मुख्यत: तीन प्रकार के होते हैं, जो सत्व, रज और तमोगुण के अनुसार अलग-अलग प्रतिनिधित्व रखते हैं। उनके पहनाव, वेश-भुषा आदि के लिए भी अलग-अलग नियमों का पालन करना पड़ता है। आधुनिक नाटकों की तरह पात्रों के स्वाभाविक वेश और पोशाक हम कथकळि के पात्रों में नहीं पा सकते। कथकळि के अभिनेता 'पच्चा', 'कत्ती', 'ताटी' आदि नामों से पहचाने जाते हैं।

'पच्चा' उस नट को कहते हैं जिसके दोनों चेहरे पर खास प्रकार का हरा रंग लगाया जाता है और वह सात्विक स्वभाव-वाला समझा जाता है। हरे रंग को सत्व गुण का चिह्न मानते हैं। 'पच्चा' के अधर के नीचे से लेकर चिबुक तक चौड़ी और एक कान के नीचे से लेकर दूसरे कान के नीचे तक लम्बी सफेद 'चुट्टी' नामक सख्त लकीरें चावल के गीले आटे में चूना घोलकर खींची जाती है। उसके दोनों होंठ लाल किये जाते हैं। पलकों और भौंहों पर काजल लगा देते हैं। 'पच्चा' के सिर पर एक विशेष प्रकार का मुकुट पहनाते हैं जिसे 'किरीटम्' या 'केशभारम्' कहते हैं। एक लाल रंग का कुर्ता जिसका हाथ कलाई तक लटका रहता है, पहनाया जाता है। कमर पर सफेद कपड़े के बड़े-बड़े टुकड़ों से बनायी हुई एक खास प्रकार की काछनी लपेट देते हैं जिसके नीचे का किनारा रंग-बिरंगे रेशमी बेल-बूटे तथा मणि-मोतियों से सजाया रहता है। साधारणत: श्रीराम, श्रीकृष्ण, अर्जुन, धर्मपुत्र, नल, अंबरीष आदि कथा के श्रेष्ठ नायकों का वेश 'पच्चा' ही होता है। कभी पात्रों के अनुकूल मुकुट में अवश्य कुछ न कुछ अन्तर पाया जाता है। श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि के मुकुट जिस प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार के अर्जुन नल वगैरह के नहीं रहते।

रजोगुण-प्रधान पात्रों के वेश को 'कत्ती' कहते हैं। 'पच्चा' की तरह 'कत्ती' के दोनों चेहरे पर यद्यपि हरा रंग

ही लगाया जाता है, तो भी 'कत्ती' की 'चुट्टी और 'पच्चा' की 'चुट्टी' में काफी अंतर रहता है। 'कत्ती' की 'चुट्टी' जरा भयानक रहती है। 'कत्ती' के ललाट और नाक पर एक छोटी-सी सफेद गोली भी लगायी जाती है जिसे 'उण्टा' कहते हैं। 'कत्ती' की आँखें लाल की जाती हैं और 'पच्चा' की तरह पलकों और भौंहों पर काजल भी लगाया जाता है। इन सबके अलावा 'कत्ती' के भाल पर लाल रंग के कुछ बेलबूटे भी खींचे जाते हैं। पोशाक, मुकुट आदि बाकी बातें 'पच्चा' की तरह ही हैं। रावण, कंस, दुर्योधन, कीचक आदि पात्रों का वेश 'कत्ती' ही होता है।

कथा के तमोगुण-प्रधान दुष्ट पात्रों के वेश का नाम 'ताटी होता है। मलयालम में 'ताटी' शब्द का अर्थ दाढ़ी भी है और 'ताटी' के वेश में दाढ़ी की प्रधानता भी रहती है। 'ताटी' वेश तीन प्रकार के हैं। उनमें पहला 'लाल ताटी' है जिसकी दाढ़ी का रंग बेशक लाल रहता है। 'लाल ताटी' वेशवाले के चेहरे पर हरे रंग के बदले लाल रंग लगाया जाता है। उसके ऊपर काले और सफ़ेद दाग तथा लकीरें भी खींचा करते हैं। 'कत्ती' की तरह ललाट तथा नाक पर एक-एक छोटी-सी सफेद गोली भी लगा देते हैं। 'लाल ताटी' का कुर्ता भी यद्यपि लाल रंग का ही होता है तो भी वह हिंस्र जानवरों की खाल की भांति काँटेदार अथवा रोंगटेवाला होता है। उसके सिर पर के मुकुट का आकार बहुत बड़ा रहा करता है, जिसे

'कुट्टिच्चामरम्' कहते हैं। 'लाल ताटी' का वेश देखने में काफी भयानक रहता है। यह वेश प्रतापी राक्षसों और असुरों के लिए नियत माना जाता है।

हम दूसरे प्रकार के 'ताटी वेश' को उसके काले रंग की दाढ़ी से पहचान सकते हैं। उसे 'करुत्त ताटी' कहते हैं। मुँह पर लाल रंग के स्थान पर काला रंग लगाते हैं और सफेद व लाल रंग के दाग आदि भी खींचते हैं। नाक और ललाट पर यथापूर्व गोलियों का होना आवश्यक है। कुर्त्ता काला और काँटेदार होता है। बाकी पोशाक आदि भी प्रायः काले रंग की ही होती है। 'करुत्त ताटी' के सिर पर जो मुकुट पहनाया जाता है उसके आकार और रूप में भी थोड़ा-बहुत फरक रहता है। यह वेश भी अवश्य देखने में बहुत भयानक लगता है। जंगल के किरात, व्याध, पिशाच आदि पात्रों का वेश 'करुत्त ताटी' अर्थात् 'काली दाढ़ी' ही रहता है।

'हनुमान' आदि वानरों के वेश को 'सफेद ताटी' कहते हैं। यह वेश भी अपनी सफेद दाढ़ी और चेहरे के सफेद रंग से पहचाना जा सकता है। चेहरे पर के सफेद रंग के ऊपर लाल और काले रंग के दाग तथा नाक और ललाट पर की सफेद गोलियाँ आदि इस वेश के विशेष लक्षण हैं। इतना ही नहीं, सिर पर के मुकुट का रंग और रूप एकदम भिन्न रहते हैं। कुर्ती आदि पोशाक जानवरों के रोमवाले चमड़े की तरह है,

जिसका रंग अलबत्ता सफेद ही रहा करता है। वानर, सात्विक स्वभाववाले दानव आदि के लिए 'सफेद ताटी' का वेश ही उपयुक्त समझा जाता है। 'पच्चा', 'कत्ती' और 'ताटी' पुरुष-पात्रों के लिए हैं। स्त्री-पात्रों के वेश दूसरे प्रकार के होते हैं।

स्त्री-पात्रों का वेश-विधान

साधारण स्त्री-पात्रों के वेश में मुँह पर हरा रंग लगाने के बदले लालीमिश्रित पीला रंग ही लगाया जाता है। सिर पर मुकुट के बदले भड़कीले रेशमी कपड़े डालते हैं। स्त्री-पात्रों के कर्णाभूषण छोटे होते हैं। कुर्ते आदि में भी थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य रहता है। 'भद्रकाली', 'यक्षी', भीलनी, पिशाचिन आदि भयानक स्त्रियों के वेश में स्वभावानुकूल परिवर्तन किया जाता है। उसके लिए चेहरे का रंग, पोशाक, आभूषण आदि में आवश्यकतानुसार परिवर्तन ला सकते हैं। भयानक स्त्रियों के वेश को 'करी' कहते हैं। उनके चेहरे पर काला रंग लगाते हैं जिसके ऊपर चावल के गीले आटे की सफेद बुँदकियाँ, चेचक की फोड़ियों की तरह, डालकर उसे बहुत भयानक बनाते हैं। उनके सिर पर रेशमी वस्त्र ओढ़ने के बदले खास प्रकार के मुकुट पहना देते हैं।

अन्य अप्रधान पात्रों का वेश-विधान

कथकळि के ब्राह्मण, ऋषि, राज, बढ़ई, नौकर-चाकर आदि फुटकल पात्रों के वेश में काफी स्वाभाविकता रहती है।

उनके चेहरे पर साधारण स्त्री-पात्रों की तरह पीला रंग ही लगाया जाता है। ऋषियों के सिवा बाकी वेशधारियों को सिर पर पगड़ी पहना देते हैं। ऋषियों के सफेद दाढ़ी रहती है और सिर पर पगड़ी के बदले जटा-जूट पहना देते हैं, जिससे उनका वेश अत्यन्त स्वाभाविक-सा लगता है। इन सब के वेश में साधारण कपड़ा या धोती ही काछनी के बदले इस्तेमाल करते हैं। कपड़े के रंग में पात्रानुकूल आवश्यक परिवर्तन अवश्य किया जाता है। उपर्युक्त वेशधारियों की छाती नंगी रहती है जिसपर कभी-कभी दो-चार मालाएँ लटकती रहती हैं। ब्राह्मण और ऋषियों के वेश में जनेऊ अवश्य रहता है। ऋषियों के बदन पर भस्म का लगा रहना भी अनिवार्य माना जाता है।

यद्यपि कथकळि के पात्र अभिनय के अवसर पर बिलकुल बोलते नहीं हैं तो भी 'कत्ती', 'ताटी' और 'करी' वेशवाले बीच-बीच में एक खास प्रकार का शोर भी कर सकते हैं। 'ताटी' तथा 'करी' वाले नट रौद्र रस का अभिनय करते समय बड़े जोर से गरज भी सकते हैं। लेकिन अन्य किसी भी वेशवाले को रंगमंच पर आकर बोलने या किसी प्रकार का शोर मचाने की आज़ादी नहीं रहती। आधुनिक काल में ययदपि स्त्रियाँ भी कथा-कळि में अभिनय करती हैं तो भी प्राचीन काल में प्रायः पुरुष ही इसके अभिनेता हुआ करते थे।

बाजे और संगीत

अब कथकळि के बाजे के विषय में भी थोड़ा परिचय देना आवश्यक है। रंगमंच पर नटों के पीछे दो गायक खड़े होकर कथा के पद, गीत, कीर्तन आदि का आलाप करते हैं। उनके गानों में प्रसंगानुकूल विभिन्न राग-रागिनियों का आलाप भी किया जाता है। उन गायकों में एक के हाथ में 'चेंगला' (a resounding gong) नामक बाजा रहता है, जिसे वह अपने गानों के ताल के आधार पर बजाता है। दूसरे गायक के हाथ में 'चेंगला' के बदले 'इलत्तालम्' (a pair of clanking cymbals) रहते हैं। इसके सिवा दो प्रकार के अलग-अलग बाजे भी बजाये जाते हैं जिनमें एक का नाम 'चेण्टा' (a cylindrical drum with a loud and powerful sound) है और दूसरे का 'मद्दलम' (a very big mridangum) है। बाजा बजानेवाले और गायक लोग अभिनय और नृत्य के मुताबिक ताल और लय के साथ अपने बाजे बजाते हैं और गाते हैं। साधारण नियम है कि जब पुरुष पात्रों का अभिनय होता है तभी 'चेण्टा' और 'मद्दलम' दोनों बजाये जायँ और स्त्री-पात्रों के अभिनय के समय सिर्फ 'मद्दलम' ही बजाया जाय। लेकिन इसका पूर्णरूप से पालन कभी-कभी नहीं किया जाता है।

अभिनय का कार्यक्रम

प्राय: 'कथकळि' रात के करीब नौ बजे शुरू होती है। दर्शक लोग पूरी रात जागते रहने के लिए तैयार होकर नौ बजे के पहले आ जाते हैं। उनको 'कथकळि' की सूचना देने के लिए सबसे पहले रंगमंच पर बाजे बजानेवाले तथा गायक आकर खड़े होते हैं और मंगलाचरण के साथ खूब बाजे बजाते हैं। इस प्रथा को 'केळिकोट्टु' अर्थात् 'प्रारंभ में खेल की सूचना देने का बाजा' कहते हैं। 'केळिकोट्टु' के समय बाजे बजानेवाले ही अपनी कला का विशेष प्रदर्शन करते हैं। गायक चुपचाप खड़े रहते हैं।

'केळिकोट्टु' के बाद आधे या पूरे घण्टे का समय 'अणियरा' या नेपथ्य की तैयारी तथा विश्राम के लिए मिलता है। उसके बाद 'तोटयम्' अर्थात् 'प्रारंभ' बजाते हैं। 'केळिकोट्टु' और 'तोटयम्' में इतना ही अंतर है कि 'तोटयम्' के अवसर पर गानेवाले भी कुछ न कुछ गाते हैं। मंगलाचरण के गीत, कीर्तन आदि उसी समय गाने पड़ते हैं क्योंकि 'कथकळि' के बीच में उसके लिए मौका नहीं नसीब होता है। 'तोटयम्' करीब एक घण्टे तक रहता है। उस समय भी बाजेवाले अपनी पूरी दक्षता दिखा सकते हैं। 'तोटयम्' के बाद एक 'पच्चा' और एक या दो 'स्त्री-वेश' रंगमंच पर आकर पर्दे के पीछे खड़े हो जाते हैं और प्रार्थना, पूजा आदि के बाद खास प्रकार के तालों के अनुसार नाचते हुए धीरे-धीरे पर्दे

को हटाने लगते हैं। इसमें वे अपनी 'कला चातुरी' का प्रदर्शन करने के लिए थोड़ा ज़्यादा समय लिया करते हैं। इस कार्यक्रम को 'पुरप्पाटु' कहते हैं। 'पुरप्पाटु' में एक दो पात्रों का 'प्रथमप्रवेश' मात्र मनाया जाता है। इसका कथा के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। 'पुरप्पाटु' के बाद ही सचमुच कथा का अभिनय प्रारंभ होता है। उस समय गानेवाले 'कथकळिनाटक' के मंगलाचरण गाते हैं और अन्य दो-तीन गीतों के द्वारा कथा का 'प्रसंगपरिचय' प्रदान करते हैं। इसको 'मेलप्पदम्' कहते हैं। 'मेलप्पदम्' के बाद कथा के दृश्यों का अभिनय क्रमशः शुरू होता है। कथा के आरंभ से लेकर अन्त तक की तमाम घटनाओं का अभिनय 'पच्चा', 'कत्ती', 'ताटी' आदि वेशधरी नट अपने-अपने निश्चित समय पर रंगमंच पर आकर करते हैं। प्रत्येक दृश्य के बाद पर्दे को पूर्ववत् उठाये दो आदमी दीपक के पीछे खड़े रहते हैं और दूसरे नट आकर अपने दृश्य के लिए पर्दे हटाने का नृत्य आदि करने के बाद उसे हटा देते हैं और उसके बाद ही नया दृश्य शुरू होता है। यही कथकळि में दृश्य-परिवर्तन का क्रम कहा जा सकता है। रंगमंच पर जब पात्र अभिनय करते रहते हैं तब उनके पीछे खड़े होकर गायक कथा के पद और गीत गाते हैं और बाजेवाले अपने बाजे बजाते हैं। गायकों के पद और गीतों का मतलब ही अभिनेता लोग अपनी विविध मुद्राओं तथा इशारों के द्वारा प्रकट कर देते हैं। उनके संकेतों को समझने के लिए गानों का

मतलब जानना विशेष उपयोगी होगा। कभी-कभी नट अपनी ओर से स्वतन्त्रतापूर्वक कथा-प्रसंगों का अभिनय भी अवश्य करते हैं। इस प्रकार कथा के विविध दृश्यों का अभिनय रात भर होता रहेगा और अन्त में प्रार्थनागान और ध्यान-नृत्य के बाद प्रातःकाल कथकळि समाप्त होगी। यही कथकळि के अभिनय का संक्षिप्त परिचय है।

साहित्य और नाट्य

वास्तव में 'कथकळि' में नाटक और नृत्य दोनों का सुन्दर समावेश है। इसमें साधारण नृत्य की अपेक्षा नाटकाभिनय की ही प्रधानता रहती है। 'कथकळि' का साहित्य भी अत्यन्त श्रेष्ठ है। कथकळि के प्रबंध-काव्यों के आधार पर ही अभिनय कार्य सम्पन्न किया जाता है। उन काव्यों के गीत और पद उच्च कोटि के होते हैं जिनका अभिनय कथकळि में किया जाता है। मलयालम् का कथकळि-साहित्य काफी ऊँचा माना जाता है। वह ज़्यादा पौराणिक आख्यानों को लेकर हुआ है। संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध कवि और गायक जयदेव के 'गीतगोविन्द' की तरह कथकळि के काव्य भी संगीत-शास्त्र के अनुकूल रचे गये गेय-काव्य हैं। 'गीतगोविन्द' में नायक और नायिकओं का संभाषण सुमधुर गीतों द्वरा कराया गया है। इसी तरह कथकळि के काव्यों में भी गीतों, दण्डकों, पदों तथा श्लोकों के ज़रिये कथोपकथन का कार्य सम्पन्न किया जाता है। कथकळि के काव्य

प्रबन्ध-काव्य ही होते हैं, जिनमें नाटकीय ढंग से किसी सुन्दर आख्यान का संपूर्ण वर्णन मिलता है जो सुखान्त या दुःखान्त भी अवश्य हुआ करता है। उन काव्यों के पद, श्लोक, गीत आदि अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं मार्मिक ढंग से गाये जा सकते हैं।

गीतों, दण्डकों तथा पदों के अलावा अच्छे-अच्छे कीर्तन भी कथकळि के प्रबन्ध-काव्यों में बहुत मिलते हैं, जिनका गान विविध राग-रगिनियों में बड़ी सफलता से किया जाता है। उन गीतों, कीर्तनों आदि की भाषा संस्कृत-मिश्रित मलयालम अर्थात् 'मणिप्रवाळम्' शैली की है। बीच-बीच में शुद्ध संस्कृत के श्लोक और कीर्तन भी अवश्य पाये जाते हैं। कथकळि की कविताएँ प्रायः अनुप्रासयुक्त एवं प्रसादगुण-विशिष्ट होती हैं। प्रसंगानुकूल ओज और माधुर्यपूर्ण रचनाएँ भी उनमें कम नहीं। उन सब कविताओं में विविध भावों की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति बड़ी सरसता से की जाती है जिनका अभिनय करना ही कथकळि के नटों का मुख्य कार्य माना जाता है। नटों के पीछे खड़े होकर जब गायक गाने लगते हैं तब उन गीतों के भाव के आधार पर ही नट कथा की तमाम बातें हस्त-मुद्राओं तथा मुख-मुद्राओं के द्वारा बड़ी कुशलता से अभिनय करके अपने सामने बैठे दर्शकों को समझा देते हैं। 'कथकळि' के नट अपनी इस अद्भुत मूक-भाषा के द्वारा प्रकृति के मनोहर दृश्यों का भी रोचक वर्णन कर दिखाने की क्षमता रखते हैं। ऊँचे पहाड़,

स्वच्छ जलवाली नदियाँ, सुन्दर सरोवर, कुसुमित कानन, अपार और अगाध समुद्र, विशाल आकाश आदि का सरस एवं सुन्दर कल्पनापूर्ण वर्णन 'कथकळि' के नट अपनी विविध मुद्राओं तथा संकेतों द्वारा करने तथा उनका अभिनय विविध प्रकार से कर दिखाने की असाधारण कला का ज्ञान रखते हैं। उनका अभिनय देखकर अपढ़ लोग भी तन्मय हो उठते हैं।

कथकळि के नट नव रसों का अत्यन्त स्वाभाविक अभिनय जितनी आसानी से करके लोगों पर सहज प्रभाव डाल सकते हैं, उतनी आसानी से साधारण नाटकों के नट शायद ही कर सकेंगे। कथकळि के कुछ प्रसिद्ध नट अपनी एक आँख से शृंगार रस प्रकट करते हुए, उसी समय दूसरी आँख के द्वारा रौद्र, बीभत्स आदि किसी अन्य विरोधी रस का अभिनय भी कर दिखाने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। इस प्रकार के कठिन अभिनय को 'एकलोचनाभिनय' कहते हैं। तिरुवितांकूर के सुविख्यात नट 'गुरु शंकरन नम्पूतिरी' ऐसे व्यक्ति थे जो यह अभिनय खूब दिखाया करते थे। आधुनिक नटों में 'कलामंडलम कृष्णन नायर', 'कुंचु कुरुप' आदि भी यह विचित्र अभिनय करने की क्षमता रखते हैं। 'शंकरन नम्पूतिरी' की अभिनय-कला को देखकर विश्वविख्यात नृत्यकलाप्रवीण श्री उदयशंकर भी अत्यन्त प्रभावित हुए और उनके अधीन रहकर करीब छः महीने तक उन्होंने कथकळि का विशेष अध्ययन भी किया। उन दिनों कथकळि के विषय में उदयशंकर ने यों कहा है—

'The Kathakali actors in their dumb show portray all the horrors of fighting and killing, all the pulsating urges of love and passion, all the pathos and pangs of separation and bereavement, Apart from the use of symbolic gestures these actors can convey straight to the audience their feelings by means of their facial expression which behaves like a rubber ball, judging from the minutest ripple which can be shown.'

कथकळि की शिक्षण-व्यवस्था

पुराने ज़माने में 'कथकळि' को केवल मंदिरों और राजघरानों में ही विशेष प्रोत्साहन मिलता था। केरल के प्रसिद्ध ज़मीन्दार नम्पूतिरियों के महल अर्थात् 'इल्लम्' में प्राय: त्योहारों और शादियों के अवसर पर कोई न कोई 'कथकळि' नाटक अभिनय करना आवश्यक समझा जाता था। इसके लिए वे नम्पूतिरि लोग अपने यहाँ 'कथकळि संघम्' नामक एक दल को तैयार कर रखा करते थे। बड़े-बड़े राजाओं और धनी ज़मीन्दार-नम्पूतिरियों के यहाँ एक-एक 'कथकळि संघम्' का रहना उनकी प्रभुता और प्रतिष्ठा के लिए भी अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। प्राचीन काल में ऐसे कई 'कथकळि संघम्' केरल में थे। प्रत्येक 'संघम्' में आवश्यकतानुसार अभिनेताओं और नटों को ही नहीं, बल्कि गायकों

और बाजा बाजानेवालों को भी खूब प्रोत्साहन देकर शामिल किया जाता था। उनका पूरा खर्च वे राजा या नम्पूतिरि लोग उठाते थे। वे उनको इनाम और पुरस्कार भी खूब देते थे। 'संघम्' में जो लोग शामिल किये जाते थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था भी उन्हीं राजाओं और नम्पूतिरी लोगों को पहले ही करनी पड़ती थी।

'संघम्' में भरती होनेवाले अभिनेताओं तथा नटों को उत्तम प्रशिक्षण देने की पूरी ज़िम्मेदारी वे लोग उन दिनों के प्रसिद्ध 'कथकळि-विद्वानों' तथा 'नटों' पर छोड़ देते थे। 'कथकळि' की शिक्षा देनेवाले उन प्रमुख गुरुओं को 'आशान्' कहा करते थे। प्रत्येक प्रधान 'आशान्' की 'कथकळि-पाठशाला' का नाम 'कळरी' था। केरल में पहले ऐसी अनेक उत्तम 'कळरियाँ' थीं, जिनमें शामिल होकर लोग 'कथकळिकला' की शिक्षा पाते थे। उन 'कळरियों' में नटों को कथकळि के विशिष्ट 'नृत्यों' तथा 'मुद्राओं' की .शिक्षा दी जाती थी। एक प्रधान आशान् के एक या दो सहायक भी आवश्यकतानुसार रहा करते थे।

इस तरह कथकळि की प्रारंभिक शिक्षा प्रत्येक नट को कम से कम तीन या चार साल तक पाना आवश्यक था। उसके बाद ही किसी नट या अभिनेता को 'संघम्' में प्रवेश मिल सकता था। अतः 'कळरी' में सात या आठ वर्ष के

बालकों को भी प्रवेश दिया जाता था। प्रशिक्षित नटों को 'संघम्' में शामिल होने के बाद किसी मंदिर में जाकर पहली बार दर्शकों के सामने किसी 'कथकळि' नाटक में अपना पार्ट खेलना पड़ता था। उस प्रथम बार के अभिनय को 'अरङ्ङेट्टम्' कहते थे। 'संघम्' की तरफ़ से खेली जानेवाली प्रत्येक कथा के प्रथम अभिनय को भी 'अरङ्ङेट्टम्' कहा जाता था। आजकल भी यह 'अरङ्ङेट्टम्' पहली बार प्रायः किसी मंदिर में ही किया जाता है। इस प्रकार की 'कळरी' और 'संघम्' को ही हम कथकळि की शिक्षण संस्था मान सकते हैं।

कलामंडलम्

इन 'कळरियों' को केरल में पहले जो प्रोत्साहन मिलता था वह धीरे-धीरे कम होने लगा और उनकी संख्या भी घटने लगी। नतीजा यह हुआ कि केरल के चार-पाँच प्रमुख राजाओं तथा सात-आठ धनी नंपूतिरियों को छोड़कर दूसरों के यहाँ 'कळरियों' और 'संघों' को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला। 'कथकळि' के प्रति यह उपेक्षा और अवज्ञा कई सालों तक जारी रही। उन दिनों सिर्फ मंदिरों के मेलों में या किसी धनी नम्पूतिरी के 'इल्लम्' में त्योहार के अवसर पर ही 'कथकळि का अभिनय' किया जाता था। फलस्वरूप साधारण जनता का ध्यान कथकळि की तरफ से हटने लगा। यह दशा देखकर कुछ सुधारवादी कथकळि-प्रेमी

लोगों ने कथकळि का उद्धार करने की कोशिश अवश्य की थी। लेकिन वास्तव में सर्वसाधारण जनता को कथकळि का महत्व समझाने और उनके बीच में उसका प्रचार करने का प्रयत्न आधुनिक काल में ही ज़्यादा हुआ है। इस महान् कार्य में मलयालम् के प्रसिद्ध महाकवि 'वल्लत्तोल नारायण मेनोन' की सेवाएँ सबसे ज़्यादा प्रशंसनीय मानी जा सकती हैं।

वल्लत्तोल ने कथकळि के प्रचार और सुधार का कार्य अपने जीवन का सर्वप्रधान लक्ष्य माना था। उसकी प्राप्ति के लिए उन्होंने जीवन भर कष्ट उठाया। अन्त में अपनी साधनाओं के फलस्वरूप एक संस्था की स्थापना भी वे कर सके, जिसका नाम 'कलामण्डपम्' है। इस संस्था ने कई अच्छे-अच्छे कलाकरों को प्रोत्साहन दिया है, कई उत्साही कला-प्रेमियों को प्रशिक्षण देकर आगे बढ़ाया है, कई नृत्य-कला-प्रेमी रमणियों को 'कथकळि' की तरफ़ आकर्षित किया है और आधुनिक दुनिया के कोने-कोने में 'कथकळि' का प्रदर्शन कराकर इस विशिष्ट कला को लोकप्रिय एवं विश्वविख्यात बनाया है। यह संस्था केरल के 'चेरुतुरुत्ति' नामक गाँव में अपना महा-विद्यालय 'कथकळि' का पशिक्षण देने के इरादे से चला रही है जहाँ बँगला के महाकवि रवीन्द्र के 'शांतिनिकेतन' की तरह दुनिया के प्रत्येक राज्य के कला-प्रेमी स्त्री-पुरुष जाकर 'कथकळि' का शिक्षण पा रहे हैं। केरल की विश्व-विश्रुत

संस्थाओं में कथकळि की शिक्षा देनेवाली 'कलामंडलम्' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

'कलामण्डलम्' की सेवाएँ कई कारणों से प्रशंसनीय हैं। 'कथकळि' के पुराने कार्यक्रम, अभिनय क्रम, रंगमंच, नेपथ्य-विधान, संगीत आदि में समयोचित एवं आवश्यक परिवर्तन और सुधार लाने का श्रेय इस संस्था को अवश्य मिला है। 'केळि-कोट्टु' के स्थान पर नोटिस छपवाकर वितरण करना, नटों और नटियों की वेश-भूषाओं में यथासंभव नवीनता लाना, रंग-मंच पर अश्लील श्रृंगार का अभिनय एकदम बन्द करना, संगीत-विधान में हारमोनियम् के द्वारा 'श्रुति-नियन्त्रण' करना, प्रसंगानुकूल विवध दृश्यों का संविधान और सजधज करना आदि कई बातों का समुचित समावेश करके 'कथकळि' को पूर्वाधिक रोचक और लोकप्रिय बनाने में 'कलामण्डलम्' ने नेतृत्व लिया और उसको इसमें बड़ी सफ़लता मिली। इसी प्रकार किसी 'कथकळि-प्रबन्ध' के सिर्फ दो-चार चुने हुए दृश्यों का अभिनय मात्र दो-तीन घंटों में करके दिखाने की नवीन परिपाटी भी 'कलामण्डलम्' के द्वारा ही प्रचलित हुई है। पहले जो 'कथकळि' एक संपूर्ण रात में भी समाप्त न हो सकती थी, उसी के कुछ चुने हुए एवं सरस दृश्यों को ही लेकर कम से कम समय के अन्दर प्रदर्शित करने का यह नवीन क्रम अमल में लाना एकदम क्रान्तिकारी प्रयत्न था। इसमें 'कलामण्डलम्' को कई प्रकार के विरोधों और आक्षेपों का मुकाबला भी अवश्य

करना पड़ा था। लेकिन ऐसा नवीन क्रम प्रचलित करके अब तो 'कलामण्डलम्' ने सचमुच 'कथकळि' की लोकप्रियता को अवश्य बढ़ाया है। इसके अलावा 'कलामण्डलम्' के प्रयत्न से ही आजकल स्त्रियाँ भी 'कथकळि' के अभिनय-कार्य में स्वयं भाग लेने लगी हैं जिससे अभिनय की स्वाभाविकता का पालन पूर्वाधिक हो रहा है। इस प्रकार 'कलामण्डलम्' की स्थापना से 'कथकळि' के प्रशिक्षण, अभिनय, सुधार और प्रचार में बड़ी भारी उन्नति अवश्य हुई है।

समस्त कलाओं का संकलन

उपर्युक्त कई बातों से यह विदित हो सकता है कि 'कथकळि' केवल नाट्यकला या अभिनयकला मात्र के प्रदर्शन के लिए प्रचलित कोई मामूली कला नहीं है। इसमें प्रायः समस्त ललित कलाओं का सुन्दर संकलन मिलता है। 'कथकळि' के वेश-विधान में चित्रकला का चमत्कार अवश्य दीख पड़ता है। जिसको चित्रकला का अच्छा ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है वह 'कथकळि' के विविध पात्रों का वेश-विधान ठीक रीति से नहीं कर सकेगा। 'कथकळि' के पात्रों के वेशों का ऐसा विचित्र विधान भी है कि पात्र बनकर अभिनय करनेवाले व्यक्ति की निजी सुन्दरता या कुरूपता के कारण उसके वेश में विशेष-अन्तर नहीं पड़ सकता। भगवान् श्रीकृष्ण का सुन्दरतम रूप और वेश किसी साधारण कुरूप व्यक्ति में भी प्रकट किया जा

सकता है। इसी प्रकार किसी सुन्दर व्यक्ति को बिलकुल असुन्दर, भयानक अथवा घृणित रूप और वेश में दिखाना भी 'कथकळि' के वेश-विधान में बिलकुल कठिन नहीं है, क्योंकि 'चुट्टी', 'कत्ती', 'ताटी' आदि की वजह से किसी व्यक्ति के चेहरे के वास्तविक रूप और भाव को एकदम पात्र के अनुकूल बदलने की चित्रकला 'कथकळि' के वेश-विधान में विद्यमान है।

चित्रकला की तरह 'कथकळि' में हम संगीत-कला और अभिनय-कला का सुन्दर समन्वय भी पा सकते हैं। 'कथकळि' के नृत्य और अभिनय उसीके सुमधुर संगीत के दृश्यरूप हैं तो उसका संगीत, नृत्य और अभिनय का श्रव्य रूप मात्र है। 'कथकळि' की साहित्य-कला अथवा 'काव्य-कला' की सुखद एवं विशाल गोद में हम संगीत और अभिनय को एक दूसरे से हिल-मिलकर सानन्द क्रीड़ा करते हुए पाते हैं।

इसके अलावा, 'कळरियों' में कथकळि का प्रशिक्षण देने-वाले 'आशान्' लोगों को इन कलाओं की तरह 'शरीर-विज्ञान' और 'मनो-विज्ञान' की पर्याप्त जानकारी अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा वे इस कला का अभ्यास ठीक प्रकार से कदापि करा नहीं सकेंगे।

'कथकळि' की विविध मुद्राओं तथा संकेतों की जो भाषा है वह इतनी स्वाभाविक और सार्थक है कि उसका परिज्ञान पाना और प्रचार करना किसी भी देश या काल के मानव के

लिए बिलकुल कठिन नहीं हो सकता क्योंकि हम दुनिया में हर कहीं 'जड़-चेतन की एक अकृत्रिम और ध्वनिहीन भाषा' का अस्तित्व अवश्य पाते हैं। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि 'कथकळि' की सांकेतिक मूक भाषा का महत्व देश अथवा काल की परिधि के कारण सीमित नहीं माना जा सकता है।

वास्तव में, यह कला केरलप्रदेश की विविध विचित्र कलाओं में प्रमुख होने पर भी इसको सार्वदेशिक और सार्वकालीन मानना ज़्यादा उचित होगा।

'अनाचारों' की अपूर्व संस्कृति

यद्यपि प्रकृति-सौन्दर्य, भाषा, साहित्य, शिक्षा, कला, स्वच्छता आदि विविध क्षेत्रों में केरल प्रदेश की सांस्कृतिक विशिष्टता और वरिष्ठता विश्व के सभी लोग मानते हैं, तथापि कहीं-कहीं ऐसा भी कहा जाता है कि 'केरल जाति-भेद का रंग-मंच है', 'अनाचारों और अन्ध-विश्वासों का क्रीड़ा-क्षेत्र है', 'पागलपन का प्रदर्शनालय है' और 'अस्पृश्यता की जननी है'। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक केरल के कुछ लोगों में प्रचलित कई विचित्र विश्वासों और दैनिक आचरणों के विषय में अन्य प्रदेशों के लोग थोड़ी उपेक्षा और अनादर की भावना कभी-कभी प्रकट करते आये हैं। अतः उन कतिपय विश्वासों और आचरणों के सम्बन्ध में जो भ्रम-पूर्ण धारणा कहीं-कहीं फैली हुई है उसका विशद विश्लेषण और अध्ययन करना परम आवश्यक है क्योंकि उसके द्वारा ही 'केरलीय संस्कृति की' विकास-कथा का सच्चा, सरस एवं सुन्दर चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होना संभव हो जायगा।

ऐतिहासिक अनुसन्धान

यह पहले ही बताया जा चुका है कि केरल की प्राचीन जनता आर्यों के आगमन के पहले भी सुसभ्य एवं संस्कृति-सम्पन्न

रही थी। उन दिनों की सभ्यता सैन्धव-सभ्यता से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। शिवाराधना, मातृ-पूजा आदि का प्रचलन आर्यों के आगमन के पहले भी केरल में खूब होरहा था। महात्मा बुद्ध-देव के उपदेशों का प्रभाव भी तब केरल में सर्वत्र प्रबल रूप से पड़ रहा था। कहा जाता है कि केरल के कई प्राचीनतम अय्यप्पन-मन्दिर, शास्ता-मन्दिर, देवीमन्दिर, शिवालय आदि एक ज़माने में बुद्ध-विहार मात्र रहे थे। केरलीय मन्दिरों तथा मकानों के अहातों में जो लता-भवन अथवा 'कावु' हैं, वे सब बुद्ध-भिक्षुओं और भिक्षुणियों के आवास-केन्द्र रहे थे। इसलिए दसवीं शताब्दी तक केरल में प्राय: बुद्ध-धर्म का प्रचार अक्षुण्ण रूप से चलता रहा था। यहाँ की साधारण जनता बुद्ध-धर्म में दीक्षित भी रही थी। ऐतिहासिक अनुसन्धान के फल-स्वरूप अब यही माना जाता है कि दसवीं शताब्दी तक केरल में जो उत्तर भारतीय आर्य ब्राह्मण-लोग कहीं से आये थे उनका विशेष प्रभाव यहाँ की आदिम निवासी जनता पर नहीं पड़ा था। अत: वैदिक धर्म की अपेक्षा प्राचीन शैव-धर्म और बौद्ध-धर्म का ही यहाँ अधिक प्रचार उस समय रहा था। 'चेर' साम्राज्य के अन्दर रहने से केरल-राज्य पर उन दिनों द्राविड़-संस्कृति का ही प्रभाव वैदिक-संस्कृति की अपेक्षा अधिक प्रबल रहना स्वाभाविक हो सकता था। कभी-कभी केरल का राजकीय धर्म भी चेर सम्राट के प्रभाव से बुद्ध-धर्म ही माना जाता था।

आधुनिक युग में उपलब्ध विविध प्रकार के प्राचीनतम ग्रन्थों, ताम्र-शासनों और शिलालेखों के विशेष अध्ययन और अनुसन्धान के द्वारा केरल के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में कई नवीन बातें ज्ञात होने लगी हैं। उनके आधार पर यह सिद्ध होता है कि नम्पूतिरी-ब्राह्मणों की अनियन्त्रित सत्ता और प्रभुता के युग के आने के पहले केरल में प्राचीन 'चेर-साम्राज्य' कायम था और 'कुलशेखर आळ्वार', 'राजशेखर' अथवा 'चेरमान पॅरुमाळ् नायनार', 'स्थाणु रविवर्मा', 'कोतरविवर्मा', 'भास्कर रविवर्मा' आदि कई सम्राटों अथवा कुलशेखरों का प्रशासन दो-तीन शताब्दियों तक चल रहा था। उन्हीं दिनों में दक्षिण के 'चोळ' और 'पाण्ड्य' सम्राटों के बीच में कई युद्ध हुए थे। तब 'चेर-सम्राटों' ने पाण्ड्य-राजाओं की मदद की थी। इससे क्षुब्ध होकर 'राजराज चोळ' नामक प्रतापी 'चोळ-सम्राट' ने केरल पर आक्रमण भी किया था और उसके बाद लगभग एक सौ वर्षों तक 'चेर' और 'चोळ' देशों के सम्राटों के बीच में युद्ध और आक्रमण बराबर चल रहे थे। आखिर, ईसा के बाद दस्वीं शताब्दी में मारवाड़ के 'वाक्पति परमार' नामक किसी आक्रमण-कारी और दिग्विजयी सम्राट ने दक्षिण भारत के तुळु-प्रदेश के साथ केरल को भी जीत लिया था और केरल के नम्पूतिरी-ब्राह्मणों और कोलत्तिरी-राजा की सहायता से यहाँ पर खूब प्रशासन भी चलाया था। वे अपने आपको 'परशुराम' घोषित करते थे।

इस ऐतिहासिक घटना के बाद ही केरल में परशुराम-सम्बन्धी कई अद्भुत कथाएँ प्रचलित होने लगी थीं। वास्तव में, उसी 'परशुराम' ने नम्पूतिरी-ब्राह्मणों को केरल के अधिपति बनने में सर्वथा मदद पहुँचायी थी। उसी राजा ने केरल के तत्कालीन बौद्धों और जैनों को मार भगाया था और केरल में वैदिक-धर्म का प्रचार भी किया था। उसीने केरल में जो प्राचीन बुद्ध-विहार 'पळ्ळि' नाम से चल रहे थे उन सबको 'शैव-मन्दिर' या 'वैष्णव-मन्दिर' बना डाला था। केरल के प्राचीन लोग 'बुद्ध-देव' को 'पुत्तर', 'शास्ता', 'चात्तन', 'चात्तनार', 'अय्यन्', 'अय्यनार', 'अय्यप्पर' आदि विविध नामों से पुकारा करते थे। अत: अब यही अनुमान किया जाता है कि इस समय केरल में जो सैकड़ों 'अय्यप्प-मन्दिर' या 'शास्ता-मन्दिर' मिलते हैं वे सब प्राचीन युग में बुद्ध के मन्दिर रहा करते थे। नम्पूतिरी-ब्राह्मणों की प्रभुता और वैदिक-धर्म का प्रचार केरल में ईसा के बाद दस्वीं शताब्दी से ही बढ़ने लगा था, ऐसा अब माना जाता है। अतः इस समय केरल में प्रचलित हिन्दू-धर्म, मन्दिरों के अनुष्ठान, आचार-विचार आदि में हम प्राचीन काल के द्राविड़ लोगों के शैव-धर्म, वैष्णव-धर्म, शक्ति-पूजा आदि के अलावा बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म के साथ नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के द्वारा चलाये वैदिक-धर्म, तान्त्रिक अनुष्ठान, पूजा-क्रम, बलि-विधान, जाति-मर्यादा आदि अनेकों बातों का भी आश्चर्य-जनक सम्मिश्रण और समन्वय अवश्य पा सकते हैं।

इसके लिए नम्पूतिरी-ब्राह्मणों को अपराधी घोषित करने का ज़बरदस्त प्रयत्न कई विद्वानों की तरफ़ से इस समय किया जा रहा है। उसके विपक्ष में भी कई तर्क और प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं। अतः इस नवीन विवाद में पड़ना अब उचित और आवश्यक नहीं प्रतीत होता है।

यद्यपि केरल को 'परशुराम-क्षेत्र', 'भार्गव-क्षेत्र' आदि संज्ञाएँ कभी प्राप्त हुई थीं, तथापि भगवान शंकराचार्य के समय तक ये सभी विशिष्ट संज्ञाएँ यहाँ बिलकुल प्रचलित नहीं थीं, क्योंकि आचार्य के ग्रन्थों में कहीं भी न तो किसी 'परशुराम' का उल्लेख मिलता है और न केरल में परशुराम द्वारा प्रतिष्ठित कहे जानेवाले मन्दिरों के देवों या देवियों की स्तुति मिलती है। लेकिन जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने केरल के बाहर के कई मन्दिरों तथा भक्तों की स्तुति अवश्य की है। आन्ध्र और तमिलनाडु के श्रीशैलवासी प्रभु, श्री गिरि मल्लिकार्जुन महालिंग आदि देवों तथा 'कण्णप्पनायनार' आदि भक्तों का उल्लेख भी 'शिवानन्द-लहरी' में मिलता है। इस प्रकार के कई कारणों से यही अनुमान करना पड़ता है कि केरल में जिस परशुराम का विशेष महत्व अब माना जाता है वह त्रेतायुग का पौराणिक व्यक्ति कदापि नहीं हो सकता है।

ऐतिहासिक प्रमाणों से यह बताया जा चुका है कि सन् 970 के लगभग मारवाड़ के एक राजा 'वाक्पति परमार' ने

परशुराम का उपनाम धारण करके केरल में प्रवेश किया था और यहाँ के तमाम तत्कालीन बुद्ध धर्मावलम्बी स्त्री-पुरुषों का नाश करके एक स्थानीय सामन्त राजा 'करिप्पत्तु कोयिक्कल उदयवर्मा कोलत्तिरी' की मदद से सारा प्रदेश नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के प्रशासन के अन्तर्गत कर डाला था। उसके पश्चात् ही केरल-राज्य नम्पूतिरियों के अधीन आ गया था। अत: तब से लेकर ही केरल प्रदेश में सचमुच नम्पूतिरी-ब्राह्मण-लोग सर्वाधिपति एवं सर्वशक्तिमान बन गये थे। इस नवीन निष्कर्ष से यह भी मानना पड़ता है कि नम्पूतिरी-ब्राह्मणों ने ही जैन-धर्म और बुद्ध-धर्म का सर्वनाश करने के बाद अपने वैदिक धर्म का स्थानीय परिस्थिति के अनुकूल एक प्रकार का नूतन रूप बनाकर केरल के लिए निर्धारित किया था। वही धर्म आगे चलकर केरलीय आचारों और विश्वासों के रूप में यहाँ प्रचलित भी हो गया था।

आचार सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ

इस प्रकार के सभी आचारों और विश्वासों के विषय में लिखे 'भार्गव-स्मृति', 'शांकरस्मृति', 'जातिनिर्णयम्', 'आचार संग्रहम्' आदि कुछ संस्कृत-ग्रन्थ केरल में उपलब्ध होते हैं। लेकिन उन सभी संस्कृत-ग्रन्थों की प्राचीनता और प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों के बीच में भारी मत-भेद अवश्य रहता है। ऐसा मत-भेद होते हुए भी सब लोग यह अवश्य मानते हैं कि इन्हीं ग्रन्थों के द्वारा प्राचीन काल की केरलीय समाज-व्यवस्था,

जाति-भेद, आचार-विश्वास, शासन-विधान, दण्ड-रीति आदि मुख्य-मुख्य सभ्यता और संस्कृति-सम्बन्धी बातों की थोड़ी बहुत जानकारी पाना संभव हो गया है। यह भी बताया जाता है कि 'भार्गव-स्मृति' स्वयं भगवान परशुराम की रचना है। लेकिन यह ठीक नहीं है। वह तो किसी समर्थ संस्कृत-विद्वान् नम्पूतिरी-ब्राह्मण की रचना मात्र है। नम्पूतिरी-समाज में इस समय भी उस स्मृति-ग्रन्थ की मान्यता और प्रतिष्ठा कम नहीं है।

'शांकर-स्मृति' के सम्बन्ध में तो यही विश्वास किया जाता है कि जगद्गुरु भगवान श्री शंकराचार्य ने केरलीयों के लिए प्रस्तुत 'भार्गवस्मृति' के आधार पर एक नवीन स्मृति-ग्रन्थ रचा था। आचार्यकृत होने से उसका नाम 'शांकर स्मृति' पड़ा था। परन्तु, वास्तव में 'शांकर स्मृति' की भाषा और शैली अपने आप यही प्रमाणित कर देती है कि वह भगवान शंकराचार्य की रचना कदापि नहीं हो सकती है। अतः कई आधुनिक विद्वानों का विचार है कि वह ग्रन्थ भी किसी नम्पूतिरी-ब्राह्मण की रचना मात्र है और कुछ लोगों के द्वारा उसकी प्रतिष्ठा, मान्यता, प्रामाणिकता की पुष्टि और प्रचार होने के उद्देश्य से उसको भगवान श्री शंकराचार्य-कृत बताया जाता है। लेकिन ये दोनों ग्रन्थ अवश्य ही श्री शंकराचार्य के बाद निर्मित हुए थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसी प्रकार

'जाति-निर्णयम्' और 'आचार-संग्रहम्' के विषय में भी यही माना जाता है कि वे दोनों रचनाएँ भी किन्हीं विद्वान नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के द्वारा रचित अपेक्षाकृत अभिनव ग्रन्थ मात्र हैं।

उपर्युक्त संस्कृत-ग्रन्थों के अलावा प्राचीन काल की मलयालम-भाषा में लिखे 'केरल चरितम्', 'मलयालम पष्मा', 'केरल महात्म्यम्', 'केरलोत्पत्ति' आदि कुछ ग्रन्थों में भी प्राचीन काल की केरलीय जनता के आचारों और विचारों के वर्णन मिलते हैं। 'महाकवि उळ्ळूर', 'इलंकुलम', 'आट्टूर', 'काणिप्पय्यूर', आदि कई आधुनिक विद्वानों और इतिहासज्ञों की राय में ये सभी मलयालम-ग्रन्थ ही संस्कृत भाषा में रचे उपर्युक्त ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्राचीन और प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। उनका यह भी विचार है कि वास्तव में उपर्युक्त कई संस्कृत-ग्रन्थों की रचना का प्रेरणा-स्रोत भी वे ही मलयालम-ग्रन्थ हैं। चाहे जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन सभी ग्रन्थों से केरल के प्राचीन आचारों और विश्वासों के विषय में, जो अब भी चालू हैं, जानने और सोचने योग्य कई बातें अवश्य उपलब्ध होती हैं।

'शांकर स्मृति' नामक ग्रन्थ में यहाँ प्रचलित कतिपय आचारों के विषय में स्वयं लेखक ने भी उन्हें एक दम 'अनाचार' बताते हुए जो लिखा है, वह ध्यान देने योग्य है:—

"अथातोनुप्रवक्ष्यामि नृणां केरलवासिनाम् ।
अनाचारान् समासेन भार्गवेण प्रदर्शितान् ॥"
"अन्यत्राचरणाभवादनाचारान् भृगुद्वहः ।
यानाचष्टचतुषष्ठिमाख्यास्येतत्रतानपि ॥"

इस कथन से यही ज्ञात होता है कि 'अन्यत्र कहीं आचरित न होने के कारण ही' यहाँ के उन प्राचीन आचारों को 'अनाचार' बताया गया है। इस के लिए दूसरा कोई कारण नहीं बताया है। अब ऐसे आचारों की उत्पत्ति और उपयोगिता के सम्बन्ध में तत्कालीन प्रादेशिक परिस्थिति के प्रकाश में थोड़ा बहुत विचार करना उचित होगा।

कई शताब्दियों तक नम्पूतिरी लोग यहाँ के भू-स्वामी, प्रशासक, धर्म-रक्षक, प्रजा-पालक, नीतिपति, और दण्ड-कर्ता माने जाते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों उन लोगों का उत्तरदायित्व अवश्य ही बहुमुखी एवं भारी रहा होगा। यहाँ के साधारण लोगों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्हींको स्वयं पथ-प्रदर्शक बनना आवश्यक हो गया था। अतः लोगों के समक्ष उन्हें स्वयं आदर्श-निष्ठ रहना भी अनिवार्य बन गया होगा। अपनी आत्म-रक्षा करते हुए देश और समाज की संरक्षा की यथासंभव उत्तम व्यवस्था करने की जिम्मेदारी उनकी बन गयी होगी। इसलिए नम्पूतिरी लोगों ने आपस में मिल-जुलकर खूब सोच-विचार करने के बाद अपनी तथा देश

की विविध समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए एवं निजी कर्तव्यों को निभाने के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उस समय उपलब्ध सुविधा के अनुकूल अनेकों प्रकार के अच्छे-बुरे आचार-विचार, त्याग और ग्रहण, नियम और निष्ठा, दण्ड और पुरस्कार आदि की सुदृढ़ व्यवस्था कायम कर डाली होगी। यद्यपि उस व्यवस्था के विषय में उस समय भी केरल के बाहर के कई लोगों की अनुकूल राय अथवा समर्थन नहीं रहा होगा और केरल के तत्कालीन कई आचारों को 'अनाचार' घोषित करने की कहीं कहीं कोशिश भी हुई होगी, तथापि उन दिनों की केरलीय जनता ने सिर झुकाकर और आँखें मूँदकर उस नयी या सुधरी हुई व्यवस्था को पसन्द किया होगा। उसे सर्वात्मना लोगों ने स्वीकार किया होगा। कदाचित् जनता को कोई असन्तोष नहीं रहा होगा, क्योंकि उसके बीच में तब तक प्रचलित आचारों में कई स्वीकृत भी हुए होंगे। अन्यथा आर्यों और द्राविड़ों के बीच में तब समझौता नहीं हुआ होता। अतः उन नम्पूतिरी-ब्राह्मणों की चलायी वह नवीन व्यवस्था उन दिनों के केरल की परिस्थिति में अत्यन्त स्पृहणीय एवं लोक-प्रिय ही रही होगी।

वास्तव में, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हुई उस प्राचीन व्यवस्था के पीछे की भावना 'लोक-मंगल-साधना' और 'समन्वय' के अतिरिक्त और कुछ नहीं रही थी, क्योंकि उसकी रूप-रेखा खींचनेवाले आर्य जाति के नम्पूतिरी-ब्राह्मण-लोग स्वयं

संयमी, साधना-प्रिय, नीतिकुशल तपस्वी सिद्ध पुरुष थे। कहा जाता है कि वे लोग गंगा, यमुना, सिन्धु, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, आदि उत्तर और मध्य भारत की कई विशिष्ट नदियों के किनारों पर तपस्या करनेवाले आर्य-जाति के वैदिक-ब्राह्मण थे और उनकी बोलचाल की भाषा भी संस्कृत रही थी। वे केरल आकर यहाँ के सैन्धव-सभ्यतावाले प्राचीनतम द्राविड़-जाति के लोगों से तथा बुद्ध धर्मानुयायी अहिंसक जनता से सर्वथा मिलजुल कर रहने के इरादे से ही स्थानीय आचार-विचार और संस्कृति को भी आत्मसात् करने के बाद अपना आदर्श-जीवन सुखपूर्वक बितना चाहते थे। अतः उनकी व्यवस्था में आदान-प्रदान और समन्वय की सहज भावना अवश्य विद्यमान रही होगी। उन्होंने केरल की तत्कालीन सभ्यता और संस्कृति से बहुत कुछ स्वयं स्वीकार किया होगा। इसलिए उनके द्वारा प्रचलित उस नवीन व्यवस्था के गर्भ में केरल प्रदेश की मूल संस्कृति की प्राण-शक्ति अवश्य सजग रही होगी। वे यहाँ अपनी आर्य संस्कृति और सभ्यता को ज्यों की त्यों प्रचलित करने में कदाचित् असफल भी रहे होंगे। अतएव केरलीय आचार निराले हुए होंगे।

केरल में नम्पूतिरियों के द्वारा चलाये गये उन तथाकथित 'अनाचारों' की व्यवस्था के अनुसार उन्होंने स्वयं अपनी जाति और समाज के लिए ही अनेकों कठोर एवं नवीन बन्धनों और नियन्त्रणों की अनिवार्य आवश्यकता घोषित कर दी थी। अतः

यही सिद्ध होता है कि वे अपनी स्वार्थपरता मात्र से प्रेरित होकर केरल की तत्कालीन जनता के लिए कुछ नवीन आचारों की व्यवस्था नहीं करते थे, मगर तत्कालीन देश की परिस्थिति के अनुकूल आत्मसंयम के साथ सब के लिए समुचित व्यवस्था समान रूप-से लागू करना मात्र चाहते थे। इसलिए अपनी भौतिक शक्ति और भय-प्रदर्शन के द्वारा उन लोगों ने जनता के चरित्र-निर्माण, समाज-संगठन और देश-रक्षा के उपयुक्त दण्ड-मूलक आचारों औ अनुष्ठानों का विधान करने के बदले राजनीति, धर्म-शास्त्र आदि के अभिज्ञ एवं विशेषज्ञ लोगों के सामूहिक संगठन 'मामाङ्कं' के द्वारा अपने प्रस्तावित आचारों के लिए बहुमत पाने के पश्चात ही, अपनी ही आत्म-शक्ति और आचरण-शुद्धि के जरिये व्यष्टि और समष्टि के सुखपूर्ण जीवन की ऐसी व्यवस्था चलायी थी जो आस्तिकता पर आधारित एवं समन्वयात्मक नियमों से भरी हुई थी। उनकी ऐसी व्यवस्था के मूल में आधुनिक युग की प्रजातन्त्रात्मक बहुमत की गरिमा भी अवश्य दृश्यमान होती है। कहा जाता है कि यह प्रजातन्त्रात्मक भावना भी उन्होंने शायद केरल की मूल संस्कृति से ग्रहण की होगी।

अनाचरों का स्वरूप

अब ज़रा यह समझने की कोशिश करें कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके द्वारा चलाये गये तथाकथित 'अनाचार' कौन-कौन से थे और वे कहाँ तक तिरस्कार और उपेक्षा के

योग्य माने जा सकते हैं। सब से पहले 'भूमि' और 'भूस्वामी' अथवा 'ज़मीन' और 'ज़मींदार' के सम्बन्ध में उनके द्वारा चलायी गयी जो व्यवस्था थी उसकी जानकारी पाना परम आवश्यक है। कदाचित् उसीमें सब से बड़े 'अनाचार' की संभावना हो सकती है।

गुलाम-प्रथा

यह सच है कि उस समय भूमि का स्वामित्व नम्पूतिरी-ब्राह्मणों का ही रहा था। परिस्थिति के प्रभाव से उसका स्वामित्व और दायित्व उन्हीं पर संपूर्ण रूप से समर्पित माना गया था। इसलिए उन्होंने अपने अधीन रहनेवाली समस्त भूमि का सर्वाधिक सदुपयोग करने के उदेश्य से सबसे पहले यही घोषित किया कि ब्राह्मण को अपनी ज़मीन पर स्वयं खेतीबारी करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए और यदि कोई ब्राह्मण खेती का काम खुद करे तो वह ज़रूर पतित और जाति-भ्रष्ट माना जायगा। प्रत्येक ब्राह्मण को चाहिए कि वह पहले अपनी सारी ज़मीन देश के निवासी अन्य जाति के ईमानदार लोगों को खेती के लिए अवश्य सुपुर्द कर दे। उसके बाद उसे उन्हीं के द्वारा अपनी ज़मीन पर खेती का कार्य करा लेना ज़रूरी है। अन्त में फसल काटते समय उपज का 'न्यूनतम हिस्सा' मात्र लगान के रूप में अपनी आजीविका के लिए वह वसूल कर सकता था। इस प्रकार देश के अन्य लोगों के सहयोग और सौहार्द मात्र से सुखपूर्ण जीवन बिताने की सुविधा

हासिल करना उसका कर्तव्य माना गया था। इसके लिए केरल में एक तरह की 'गुलाम-प्रथा' और 'गुलामों के क्रय-विक्रय का क्रम' दोनों भी पहले प्रचलित थे। खेती करनेवाले अपने गुलाम लोगों के रहने के लिए उसी ज़मीन पर कोई घर या कुटी बनवाने की सुविधा और अनुमति देना भी प्रत्येक नम्पूतिरी ब्राह्मण का धर्म समझा गया था। इस कृषि-व्यवस्था के मूल में ब्राह्मण की सुख-लोलुपता और स्वार्थ-परता देखनेवाले आलोचक भी अब मिलते हैं।

ज़मीन पर का स्वामित्व

इस प्रकार भूमि पर नम्पूतिरी ब्राह्मण का जो स्वत्व था उसे अन्य लोगों में बाँटने की पुरानी व्यवस्था के तीन तरीके भी निर्धारित हुए थे। वे 'पाट्टम्', 'पणयम्' और 'उभय-पाट्टम्' के नाम से मशहूर थे। 'पाट्टम्' भूमि देने के उस तरीके को कहते थे जिससे अन्य जाति के आदमी भूस्वामी नम्पूतिरी को नाम मात्र का थोड़ा-सा लगान देते हुए एक निश्चित अवधि तक उसकी दी हुई भूमि पर खेती करके उपज का उपभोग करता रह सकता था। इसमें अपने ज़मींदार को लगान चुकाने के लिए भी कई तरीके बताये गये थे। भूमि पर खेती करने का अधिकार ब्राह्मण से लेते समय ही पेशगी में निश्चित लगान पूरा-पूरा चुका देना, साल भर खेती करके अन्त में लगान चुका देना, छः छः महीनों के बीच में आधा-

आधा चुकाते रहना, अनाज के रूप में 'लगान' चुका देना, पैसे के रूप में उसको चुका देना आदि कई प्रकार के क्रम इसके लिए प्रचलित थे। वे सब आधुनिक समय में भी कहीं-कहीं ज्यों के त्यों चालू हैं।

'पणयम्' जमीन पर अधिकार देने की उस रीति को कहते थे, जिसके आधार पर जमींदार अपनी जमीन पर खेती करने और फ़सल काटने का अधिकार देते समय ही अपने असामी से एक मुश्त में एक बड़ी रक़म ले लेता था और एक निश्चित अवधि तक बेफिक्र होकर खेती करने की अनुमति उसे दे देता था। उस अवधि के पूर्ण होते ही नम्पूतिरी चाहे तो, उस असामी को वह जमीन खाली कर दे जाने का आदेश दे सकता था या वह चाहे तो उससे और भी रक़म लेकर उसी को आगे भी वहीं खेती करने और उपज का उपभोग करने की अनुमति दे सकता था। यह आधुनिक काल की 'गिरवी' की प्रथा जैसी लगती है।

'उभय पाट्टम' भूमि पर काम करने का अधिकार देने की उस प्रथा को कहते थे जिसके अनुसार किसी असामी अथवा किसान को 'पणयम्' की तरह एक बड़ी भारी रक़म देकर अपने ज़मींदार से उसकी ज़मीन पर खेती करने और उपज लेने की अनुमति लेनी पड़ती थी। उसके साथ ही निश्चित लगान बराबर चुकाते रहना भी आवश्यक था। कोई निश्चित अवधि

निर्धारित करने का क्रम इस विधान में भी अवश्य रहता था। 'उभय पाट्टम' में जमीन्दार और किसान दोनों का लाभ रहता था।

इस प्रकार 'पाट्टम' 'पणयम्' और 'उभय पाट्टम' के अलावा स्थायी रूप से खेती करनेवालों को कुछ शर्तों पर जमीन देने की रीतियाँ भी तब प्रचलित थीं। 'काणम्' 'अट्टिप्पेरु', 'तीरु' आदि नामों से वे रीतियाँ कुछ नियत शर्तों पर अमल में लायी जाती थी। वे सब असामी के अधिकारों को दीर्घकालीन एवं व्यवस्थित करनेवाली अवश्य थीं। प्राय: वे सभी क्रम और आचार इस युग में भी एक न एक रूप में अवश्य प्रचलित रहते हैं।

प्रशासन-प्रणाली

अत्यधिक प्राचीन काल के केरलीय प्रशासन-विधान में शासन की सुविधा की दृष्टि से केरल प्रदेश को कुल चौंसठ गाँवों तथा चार तळियों में विभाजित कर रखा था और शासन के विविध अधिकारी चुने जाते थे। नियत संख्या के गाँवों के समूह को 'तळि' अथवा प्रदेश माना जाता था। उसके प्रशासक को 'तळियातिरी' कहा करते थे। प्रत्येक गाँव का शासक कोई न कोई नम्पूतिरी, सामन्त या नायर था। नम्पूतिरियों और तळियातिरियों की समय-समय पर होनेवाली विराट सभा में केरल के 'रक्षा-पुरुष' या 'पेरुमाळ्' का चुनाव तथा शासन-सम्बन्धी नीति का निर्धारण किया जाता था।

समस्त केरल का शासक बनकर 'रक्षा पुरुष' बारह साल की निश्चित अवधि तक राज-काज सँभाला करता था। कहा जाता है कि इस चुनाव-प्रथा के असफल होने के बाद से यहाँ पेरुमाळों का आधिपत्य और शासन प्रबल हो गया था और कई चेर सम्राटों की प्रभुता का युग भी प्रचलित हुआ था। ये बातें अन्यत्न पहले ही बतायी जा चुकी हैं।

प्रत्येक गाँव का मुख्य शासक कोई नम्पूतिरी था। उसके अधीन रहनेवाले नायरों के कई 'तरवाटु' थे। उन नायरों के 'तरवाटु' की संरक्षा में रहनेवाले ग़रीबों की कई 'कुटियाँ' रहती थीं। इस प्रकार कुटियों, तरवाटों, गाँवों आदि के सम्मिलित समूह को 'नाडु' कहते थे और उसके प्रशासक को 'नाडुवाषि' कहा करते थे। नाडुवाषि कोई नम्पूतिरी या सामन्त राजा ही रहा करता था। इस प्रकार की प्राचीन प्रशासन-प्रणाली के मूल में प्रजातन्त्र का प्राचीनतम रूप भी दृष्टिगोचर होता है। इस विभाजन-क्रम और शासन-विधान में बौद्धों की प्रचलित शासन-प्रणाली का प्रभाव अवश्य दीख पड़ता है, ऐसा भी अब माना जाता है।

धार्मिक क्षेत्न में भी प्राचीन केरलीयों के बीच में कुछ अच्छे संगठन और विशिष्ट आचार प्रतिष्ठित एवं प्रचलित थे। नम्पूतिरी-ब्राह्मणों ने कई मंदिरों को अपनी संपत्ति का बड़ा हिस्सा देकर 'देवस्वम' की एक उत्तम व्यवस्था कायम की थी।

उन्होंने अपने उन मन्दिरों की पवित्र 'संकेत-सीमा' भी निर्धारित की थी। उस सीमा के अन्दर वे युद्ध, व्यभिचार, झगड़े, मद्यपान आदि नहीं होने देते थे। यह व्यवस्था भी बुद्ध-विहारों की-सी लगती थी। मन्दिरों में पूजा-क्रम, उत्सव, शिक्षा-केन्द्र, कला-निकेत आदि विविध बातों का अच्छा आयोजन भी उन्होंने किया था। उनकी धार्मिक-सहिष्णुता और आचार-निष्ठा अत्याधिक प्रशंसनीय रही थी। विधर्मी लोगों के आचारों और विश्वासों का समुचित सम्मान भी वे अवश्य किया करते थे। पुराने आर्यों के यज्ञ, होम आदि के साथ कई प्रकार की नयी तांत्रिक एवं मांत्रिक क्रियाएँ भी वे खूब प्रचलित करते थे। 'देवी' की पूजा का अच्छा प्रचार उन्होंने यहाँ किया था। कहीं-कहीं बकरे जैसे जानवरों की बलियाँ भी निम्न जाति के अधिकारियों द्वारा चढ़ायी जाती थीं। कहा जाता है कि यहाँ 'नरबलि' का भी पूरा-पूरा निषेध प्राचीन काल में नहीं रहता था। लेकिन ऐसी तामसिक पूजाओं और बलियों की अपेक्षा सात्विक आराधना का आदर ही जनता में अधिक रहता था, क्योंकि वह बुद्ध के सिद्धान्तों से पहले ही प्रभावित थी।

नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के 'देवस्वम्' की व्यवस्था की तरह प्रमुख नायर लोगों के द्वारा 'करयोगम्' का संगठन किया जाता था और उसके अधीन मन्दिरों के संचालन और जनता में न्याय-पालन का कार्य भी किया जाता था। 'करयोगम्' साधारण लोगों का सामूहिक संगठन मात्र था, जो उन दिनों

केरल के स्थान-स्थान पर कायम होता था। कहा जाता है कि पहले नायरों के द्वारा संगठित 'करयोगम्' काफ़ी प्रबल रहा करता था और नम्पूतिरी-लोगों ने अपनी कूटनीतियों से उसको शिथिल बनाने के बाद ही अपना प्रभुत्व चलाया था। 'करयोगम्' के संगठन में प्राचीन केरल की प्रजातन्त्रात्मक प्रशासन-प्रणाली का मूल स्वरूप विद्यमान था।

चौंसठ अनाचार

यह सच है कि केरल के सामाजिक क्षेत्र में नम्पूतिरी-ब्राह्मणों के कारण जाति-भेद और छुआछूत के कई अन्ध-विश्वास और अनाचार अवश्य प्रचलित थे। उनमें चौंसठ अनाचारों का उल्लेख यहाँ के प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। उनका अध्ययन करना भी इस सिलसिले में अनुचित न होगा, क्योंकि यह देखना ज़रूरी है कि तथाकथित उन चौंसठ अनाचारों में सचमुच कितने अनाचार ऐसे हैं जो सर्वथा अनाचार मात्र हैं। अतः उन सभी 'अनाचारों' की संपूर्ण सूची नीचे दी जाती है :—

1. किसी पौधे की टहनी से कभी दन्त-धावन नहीं करना चाहिए।
2. कपड़ा पहने हुए डुबकी मारकर कभी स्नान न करना चाहिए।
3. स्नान के पूर्व पहने कपड़े से कभी शरीर नहीं पोंछना चाहिए।
4. सन्ध्या के पहले स्नान नहीं करना चाहिए।

5. बिना स्नान किये कभी कोई रसोई न बनावे।
6. कल बचाये रखे पानी का आज उपयोग न करना चाहिए।
7. भगवान से बिना कुछ माँगे ही स्नान, पूजा, जप आदि कार्य करने होंगे।
8. अपने हाथ-पैर या मुंह धोने के बाद बचे हुए पानी को दूर फेंकना चाहिए।
9. किसी शूद्र के स्पर्श से अपवित्र होने पर तुरन्त स्नान करना चाहिए।
10. किसी नीच जाति के व्यक्ति के नज़दीक आने पर अपवित्र होने से तुरन्त स्नान करना चाहिए।
11. नीच जाति के आदमी के स्पर्श से अपवित्र हुए तालाब, कुआँ आदि छूने पर भी तुरन्त स्नान करना चाहिए।
12. किसी फ़र्श या आँगन पर झाड़ू लगाने के बाद पानी छिटकाने के पहले कदम रखने से भी तुरन्त स्नान करना चाहिए।
13. त्रि-रेखाओं में ललाट पर भस्म-धारण करने के पहले भ्रू-मध्य से ऊपर की तरफ़ एक खड़ी रेखा लगानी चाहिए।
14. ब्राह्मणों को अपने आप मन्त्रोच्चरण करते हुए कर्मानुष्ठान करना चाहिए।
15. बासी भात या पिछले दिन का बचा हुआ खाना कभी न खाना चाहिए।

16. बच्चों की जूठन भी कदापि नहीं खानी चाहिए ।
17. महादेव रुद्र को चढ़ाये नैवेद्य का अंश कभी नहीं खाना चाहिए ।
18. अपनी हथेली से खाद्य-सामग्री किसी को नहीं परोसनी चाहिए, परोसने के लिए चमचा रखना ज़रूरी है ।
19. यज्ञ, होम, श्राद्ध आदि के समय कभी भैंस के दूध, घी या दही का उपयोग न करना चाहिए ।
20. भात कौर बना कर खाना चाहिए और कौर का बचा हिस्सा पुनः थाली में नहीं डालना चाहिए । दूध, पानी या अन्य पानीय कभी ओठों से लगा कर चुसकियाँ लेते हुए नहीं पीना चाहिए ।
21. अशुद्ध रहते समय कोई चीज़, यहाँ तक पान या पानी भी, नहीं निगलना चाहिए ।
22. ब्रह्मचर्याश्रम में रहते समय उस के सभी नियमों का पालन करना चाहिए ।
23. वेदाध्ययन पूरा होने पर अपने गुरु को ज़रूर दक्षिणा देनी चाहिए, अन्यथा शाप लगेगा ।
24. रास्ता चलते हुए कभी वेदोच्चारण नहीं करना चाहिए ।
25. यथाकाल विधिपूर्वक षोडश-कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए ।

26. धन लेकर कन्यादान कभी न करना चाहिए।
27. कामना-पूर्वक व्रतानुष्ठान कभी न करना चाहिए।
28. रजस्वला स्त्री को न छूना और छूने पर नहाये बगैर न खाना चाहिए।
29. ब्राह्मणों को सूत कातना मना है।
30. ब्राह्मणों को कपड़ा धोना भी मना है।
31. ब्राह्मणेतर जाति के लोगों को रुद्राक्ष पर 'शिव' का आवाहन कर के पूजा न करनी चाहिए।
32. शूद्रों के 'श्राद्ध-द्रव्य' ब्राह्मणों को कभी न स्वीकार कर लेने चाहिए।
33. पितृ-गृह और मातृ-गृह के तीन पीढ़ी के पुराने पितरों का श्राद्ध ज़रूर करना चाहिए।
34. हर अमावास्या के दिन श्राद्ध करना ज़रूरी है।
35. माता, या पिता के मरने पर दीक्षा लेकर साल भर प्रतिदिन पिण्ड देते रहना चाहिए।
36. माता, पिता या मामा के माँ-बाप के लिए भी सपिण्डीकरण तक दीक्षा और पिण्डक्रिया करनी चाहिए।
37. वार्षिक श्राद्ध नक्षत्र के अनुसार करना चाहिए, तिथि के अनुसार नहीं।
38. सपिण्डीकरण के समय कोई आशौच आ जाय तो उसके बाद ही सपिण्डीकरण करना चाहिए।
39. दत्तकों को अपने माँ-बाप का भी श्राद्ध करना ज़रूरी है।

40. शव की दहन-क्रिया अपनी ज़मीन पर ही करनी चाहिए, कहीं अन्यत्र नहीं ।

41. संन्यास स्वीकार करने पर स्त्रियों को कभी न देखना चाहिए ।

42. संन्यासियों की महासमाधि होने पर उनके पूर्वाश्रमी बन्धुओं को कभी श्राद्ध न करना चाहिए ।

43. सन्यासियों के मरने पर 'गया श्राद्ध' भी न करना चाहिए ।

44. ब्राह्मण-जाति की स्त्रियों को अपने पति के अलावा किसी पर-पुरुष को देखना भी नहीं चाहिए ।

45. ब्राह्मण-स्त्रियों को बिना दासी को अपने साथ लिये, कहीं न जाना चाहिए ।

46. सबको सफ़ेद रंग के कपड़े ही पहनना ज़रूरी है ।

47. ब्राह्मण-स्त्रियों को नाक में छेद न करना चाहिए ।

48. ब्राह्मणों को कभी मद्य-पान या मछली-मांस खाना नहीं चाहिए ।

49. ब्राह्मण जाति की पर-नारी से संभोग करने पर वह पुरुष जाति-भ्रष्ट और पतित बनाया जायगा ।

50. मन्दिरों में प्रेत की प्रतिष्ठा कभी नहीं करनी चाहिए ; घरों में कर सकते हैं ।

51. देवों को अलग-अलग पात्रों में ही नैवेद्य प्रदान करना है । एक देव को चढ़ाया नैवेद्य दूसरे को न चढ़ावे ।

52. मन्दिरों की पूजा-मूर्ति का स्पर्श ब्राह्मणेतर जाति के लोग न कर सकते हैं।
53. होम-कर्म के बिना विवाह आदि कर्म करना मना है।
54. ब्राह्मणों के बीच में एक दूसरे को प्रणाम करना मना है।
55. ब्राह्मणों का एक दूसरे को आशीर्वाद देना भी मना है।
56. मोक्षाभिलाषी लोगों को प्रतिवर्ष 'पशुमेध' न करना चाहिए।
57. शैव और वैष्णव का भेद-भाव कभी न रखा जाय।
58. हर ब्राह्मण को एक मात्र यज्ञोपवीत पहनना पर्याप्त है।
59. ज्येष्ठ पुत्र ही ब्राह्मणों में विवाह का अधिकारी है। दूसरे ब्रह्मचारी या सन्यासी बनें।
60. क्षत्रियों तथा अन्य जातियों के लोग भी अन्न लेकर ही पिण्ड-प्रदान किया करें।
61. क्षत्रिय आदि जातियों के लोगों को मातुल-श्राद्ध ही मुख्य है, पितृ श्राद्ध नहीं।
62. मामा के स्वत्व और संपत्ति का उत्तराधिकार भानजों और भानजियों को ही रहेगा।
63. पति की मृत्यु के बाद स्त्री को सन्यासिनी बनना जरूरी है।
64. पति की मृत्यु होने पर उसके साथ खुद मर जाना बड़ा पाप है।

वास्तव में, उपर्युक्त अनाचार कहे जानेवाले कई आदेशों या विधानों में बहुत कम ऐसे हैं जो बिलकुल उपेक्षणीय कहे जा सकते हैं। अगर इन्हीं चौंसठ आचारों को लेकर यह कहा गया था कि 'केरल अनाचारों की भूमि' है तो उनलोगों की राय कैसे स्वीकार्य हो सकती है? अनाचारों के रूप में बताये उपर्युक्त आदेशों में कितने ही ऐसे होते हैं जो स्वास्थ्य और स्वच्छता की दृष्टि से सब के लिए अवश्य अनुकरणीय हैं। कितने ही ऐसे हैं जो केवल नम्पूतिरी-जाति के लोगों से ही सम्बन्धित हैं। उनमें कुछ ऐसे नियम हैं जिनका संबन्ध खान-पान मात्र से है तो दूसरे कुछ ऐसे हैं जो जाति-पांति, दायक्रम, श्राद्ध आदि से सम्बन्धित हैं। लेकिन इनमें कोई आचार ऐसा नहीं दीखता है जिसको एक दम अनाचार घोषित करके तत्कालीन समाज और संस्कृति की निन्दा की जा सकती है। अतः इन चौंसठ अनाचारों का हवाला लेकर कोई प्राचीन काल की केरलीय संस्कृति की पूरी निन्दा या अवहेलना कदापि नहीं कर सकता है।

शिक्षा और शूद्र

केरल में प्राचीन विधान के अनुसार ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य जातियों के लोगों में अक्षराभ्यास और शास्त्र-शिक्षा पाने का कार्य अनुचित एवं धर्म-विरुद्ध माना जाता था। 'शूद्रमक्षर

संयुक्तं दूरतः परिवर्जयेत्' वाला आदेश मानकर पुराने ज़माने में कई शिक्षा-प्रेमी शूद्रों के प्रति विविध प्रकार के अत्याचार किये गये थे, इसके बहुत से प्रमाण मिलते हैं। स्वयं मलयालम के भक्त-कवि 'तुञ्चन्' की रचनाओं में भी कई पंक्तियाँ इस अत्याचार को घोषित करनेवाली हैं। 'लक्ष्मी' की तरह 'सरस्वती' भी तब उच्च वर्णवाले भाग्यवानों के अधीन सदैव दासवृत्ति कर रही थी। अतः अपढ़ और अन्ध-विश्वासी सामान्य लोगों की शक्षणिक दशा अत्यन्त दयनीय ही रहा करती थी। फिर भी वे प्रायः शस्त्र-विद्या-प्रवीण, युद्धकुशल और वीर रहा करते थे।

केरल के साधारण लोगों में प्राचीन काल से लेकर आज तक न्याय-निष्ठा, पाप-भय, सदाचार-तत्परता आदि सद्गुण काफ़ी मात्रा में पाये जाते हैं। पुराने ज़माने में केरल के लोग यहाँ के अत्याचारियों और अपराधियों को कड़ी से कड़ी सजा देने के निष्ठुर पक्षपाती रहते थे। कठोर दण्ड-विधान के द्वारा राष्ट्रीय एवं सामाजिक नैतिकता की रक्षा करने की अत्यन्त आवश्यकता वे मानते थे। उस नीति पर उनका अटूट विश्वास था। इसलिए यहाँ के प्राचीन आचारों में अपराधियों और अत्याचारियों को कठोर से कठोर दण्ड देने की जो भयानक प्रणाली प्रचलित थी, उसका थोड़ा परिचय भी यहाँ प्रस्तुत करना उचित होगा।

दण्ड-विधान

प्राचीन काल में 'कुल-शेखर', 'चेर सम्राट', 'राजा' या 'रक्षा पुरुष' ही किसी अपराधी को दण्ड देने और उसके अपराधों पर विचार करन के सर्वोच्च अधिकारी माने जाते थे। उनका निर्णय अन्तिम माना जाता था। प्रादेशिक सामन्त शासक और प्रमुख नायर लोग भी अपने यहाँ के अपराधियों को स्वयं पकड़ कर उचित दण्ड दे सकते थे, क्योंकि वे लोग देश के सेनापति और नीतिपति माने जाते थे। पीड़ित और दुःखी होकर शिकायत करनेवाले लोगों से किसी प्रकार का शुल्क न्याय-निर्णय करने या अपराधियों को पकड़ने के खर्च के लिए नहीं वसूल किया जाता था। यदि किसीके द्वारा की गयी शिकायत झूठी या जान-बूझकर लगायी गयी मालूम पड़ जाती तो उसी व्यक्ति को उस अपराध के लिए निश्चित दण्ड ज़रूर भोगना पड़ता था। अतः झूठी शिकायत करने का साहस कभी कोई आदमी नहीं करता था। कठोर से कठोर सज़ा देने की निष्ठुर प्रणाली होने से उन दिनों में अपराधियों की संख्या शायद कम होती थी।

यदि कोई चोर चोरी की गयी चीज़ों के साथ पकड़ा जाता तो उसका सिर तुरन्त काट लिया जाता था। आम तौर से व्यभिचारी पुरुष को भी मृत्यु-दण्ड ही दिया जाता था। लेकिन प्राचीन काल में अपने से उच्च जाति की औरत के साथ संभोग करने के अपराध को ही सचमुच व्यभिचार माना जाता था।

किसी की पत्नी के साथ संभोग करनेवाले किसी नीच जाति के पर-पुरुष को उसके व्यभिचार के अपराध के लिए किसी राजा की अनुमति के बगैर भी कोई पुरुष, मृत्य-दण्ड दे सकता था। उच्च जाति की व्यभिचारिणी स्त्रियों को, मारने के बदले उनसे निम्न जाति के लोगों के हाथ सौंप डालने का दण्ड-विधान भी तब केरल में प्रचलित था। उन दिनों में रास्ते से चलनेवाले यात्रियों को संरक्षा साधारणत: नायर लोग निष्ठापूर्वक किया करते थे और मार्ग में मिलनेवाले डाकू और लुटेरे अपराधियों को वे ही स्वयं मृत्यु-दण्ड दे सकते थे। किसी अपराधी को जाति-भ्रष्ट घोषित करने का दण्ड-विधान भी तब खूब प्रचलित था। इसलिए सब जातियों और उपजातियों के लोग अपनी जाति-मर्यादा का पालन ठीक रीति से अवश्य किया करते थे। किसीको जुर्माना देना, क़ैद करना आदि नवीन प्रकार की सज़ाएँ केरल में ज़्यादा प्रचलित नहीं थीं। किसी अपराधी को अपने को निरपराधी साबित करने के लिए किसी प्रसिद्ध मन्दिर के देवता की मूर्ति के सामने ले जाकर सत्य-प्रतिज्ञा कराने की परिपाटी तब प्रचलित थी। इसी प्रकार उसको उबलते हुए घी-भरे पात्र में अपना हाथ डुबोकर स्वयं निरपराधी साबित करने और 'मुन्नूट्टुवर', 'अरुनूट्टुवर' आदि के नायकों की प्रादेशिक सभाओं में हाज़िर होकर अपनी सबूतें पेश करने के मौके भी प्रदान किये जाते थे।

नम्पूतिरी-ब्राह्मणों की स्त्रियों के व्यभिचार-दोष पर

उनका न्याय-विचार करने के लिए वैदिक विद्वानों की अदालत या पंचायत 'स्मार्त-विचार' के नाम से कायम हुआ करती थी। उसका फ़ैसला अन्तिम माना जाता था। अपराधियों से जुर्माना आदि दण्डों के कारण प्राप्त रक़म, सोना या चान्दी प्रायः 'देवस्वम्' में ही जमा की जाती थी। राजा अथवा अन्य कोई अधिकारी उस धन पर कभी कब्जा या दावा नहीं कर सकता था। किसी अपराधी को बेत से मारने, इमली खिलाने, धुएं में लटकाये रखने, कड़ी धूप में खड़ा करने, पानी में डुबकियाँ लगाने, भारी से भारी बोझा उठाने आदि कई प्रकार की दर्द-भरी सजाएँ भी उसके अपराध की गुरुता और लघुता के आधार पर कभी कहीं-कहीं दी जाती थीं। चोरी, व्यभिचार, लूट, राजद्रोह, जाति-द्रोह, ब्राह्मण-द्रोह, देव-निन्दा, निषिद्ध भोजन आदि करना उन दिनों के मुख्य अपराध माने जाते थे। प्राय: किसी अपराधी को मृत्यु दण्ड देने के बाद उसके मृत शरीर का प्रदर्शन भी चोराहे पर किया जाता था।

चावेट्टुपटा

केरल के प्राचीन चेर सम्राटों और सामन्त राजाओं के अधीन 'चावेट्टुपटा' नामक एक प्रकार की 'वीर-सेना' का संगठन रहा करता था। वह सेना युद्धों में जाकर लड़ते-लड़ते प्राण देना अपना परम कर्तव्य मानती थी। केरल के भीतर हुए अनेकों पारस्परिक संघर्षों में 'चावेट्टुपटा' की प्राणाहुति की रोमांचकारी कथाएँ सुविख्यात हैं। कोटुंगल्लूर, कोचिन्,

कोषिक्कोट, कोल्लम आदि कई स्थानों पर विदेशी आक्रमणकारी लोगों से युद्ध करते हुए भी 'चावेट्टुपटा' के कितने ही वीरों ने आत्म-समर्पण किया था। 'चावेट्टुपटा' में केरल के वीर युवक अपनी इच्छा से ही शामिल हुआ करते थे। वे उक्त विशिष्ट सेना के योद्धा बनने में अत्यधिक आत्म-सम्मान और गर्व का अनुभव करते थे। केरल की जनता की वीरता और त्याग-तत्परता के सैकड़ों उज्वल प्रमाण 'चावेट्टुपटा' के योद्धाओं और शहीदों की आत्म-समर्पण-कथाओं से उपलब्ध होते हैं। 'चावेट्टुपटा' के सैनिक मृत्यु का स्वागत करने के लिए ही युद्धों में भाग लेते थे। वे कभी हार कर अपने घर नहीं लौट जाते थे। अतः उनके परिवार की संरक्षा का भार राजाओं और सामन्तों की तरफ़ से सँभाला जाता था। 'चावेट्टुपटा' का महत्वपूर्ण स्थान केरलीय संस्कृति के विकास में अवश्य माना जाता है।

तेविटिच्चि-प्रथा

बहु-पत्नीत्व और बहु-पतित्व तथा भ्रातृ-पत्नी को अपनी स्त्री मानने की प्रथा भी केरल में पहले थी, इसके प्रमाण मिलते हैं। इसी प्रकार 'देवदासियों की प्रथा' भी पहले केरल के मंदिरों में प्रचलित थी। कहा जाता है कि बौद्ध-भिक्षुणियों को लेकर ही 'तेविटिच्चि-प्रथा' के नाम से 'देवदासी-प्रथा' केरल में पहले खूब प्रचलित करायी गयी थी। नतीजा देखिए :—

'ब्राह्मणानां च सर्वेषां संगदोषो न विद्यते'

'परस्त्रीसंगदोषानि मम देशे न किञ्चन'

'उपरिक्रीडसुरतान् आचरन्तु स्त्रियस्सदा'
'यथेष्टंश्च द्विजैस्साकं क्रीडयद्ध्वं दिने दिने'
'नारीणां च तु सर्वासां स्तन वस्त्राणि मास्त्विह'
'न स्त्री दुष्यति जारेण, न अग्निर्दहन कर्मणा'—

इत्यादि कई उद्धरण प्राचीन काल की देवदासी-प्रथा के प्रभाव से ही केरलीय-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि केरल में व्यभिचार को बड़ा पाप नहीं मानते थे।

शब्द-भेदों का प्रयोग

यह सच है कि प्राचीन काल में केरल-प्रदेश में प्रचलित जाति-भेद, वर्ग-भेद, आवास-स्थान-भेद आदि के आधार पर वहाँ की सामान्य जनता में स्वयं अपने को उच्च या नीच, श्रेष्ठ या पतित मानने का रूढ़मूल विश्वास और साहस अत्यन्त स्थायी रूप से विद्यमान था। वास्तव में वहाँ की सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं और साधारण घरेलू वातावरण एवं जीवनचर्या के सिलसिले में प्रचलित पारस्परिक वार्तालाप की विचित्र भाषा-शैली ही 'स्वामित्व' और 'दासत्व' 'अमीरी' और गरीबी, 'ब्राह्मण' और 'अब्राह्मण' आदि कल्पित भेद-भावों को सर्वथा सूचित करनेवाली रही थी। साधारण बातचीत के लिए भी कुछ नियत सांकेतिक शब्द-भेदों का ही प्रयोग करना वहाँ के लोगों के लिए अनिवार्य-सा कर दिया गया था।

एक ही अर्थवाले, मगर साथ ही साथ, व्यक्ति के उच्च-नीच भावो के द्योतक भिन्न-भिन्न शब्दों के प्रयोग के द्वारा ब्राह्मण की श्रेष्ठता और अन्य जाति की निम्नता, स्वामी की महिमा और दास की लघुता, अमीर की प्रभुता और गरीब की दरिद्रता आदि समाजिक और धार्मिक भेद-भावों को प्राचीन काल के साधारण लोगों के मन में भी सर्वथा सुरक्षित रखने की एक विचित्र सामाजिक वृत्ति वहाँ बहुधा पायी जाती थी। उदाहरण के रूप में कुछ बातें प्रस्तुत की जाती हैं।

पुराने जमाने में वहाँ के साधारण लोग किसी 'नम्पूतिरी-ब्राह्मण,' 'प्रतिष्ठित नायर' अथवा 'सामन्त राजा' को अभि-संबोधित करने के लिए सम्मान-सूचक 'ताङ्कल' अर्थात् 'आप' शब्द के स्थान पर 'तम्पुरान' (संरक्षक) 'तिरुमेनि' (दिव्य-देह-वाले) 'तिरुमुम्पु' (श्रीमान् के समक्ष), 'तिरुमनस्सु' (श्रेष्ठ मन के महान) 'एषुन्नेळ्ळियेटत्तु' (विराजमान्) आदि श्रेष्ठता और उच्चता को प्रतिष्ठा-पूर्वक अभिव्यंजित करनेवाले विशिष्ट प्रकार के शब्द मात्र का प्रयोग ही कर सकते थे। ऐसे शब्दों का प्रयोग न करने से वे प्रतिष्ठित लोग स्वयं अपना अपमान मानते थे और एक दम नाराज हो उठते थे। कभी कभी अपने अधीन रहनेवाले ग़रीब लोगों को इस अपराध के लिए दण्ड भी दिया करते थे। अतः उन साधारण लोगों को स्वयं अपने लिए भी, किसी राजा, ब्राह्मण या प्रभु को अपना

परिचय देते समय 'मैं' शब्द का सामान्य अर्थ सूचित करनेवाले 'ञान्' शब्द के स्थान पर 'बन्दा' 'दास' 'गुलाम' आदि भावों को व्यंजित करनेवाले 'अटियन्' शब्द का ही प्रयोग करना अनिवार्य माना गया था। इसी प्रकार किसी नम्पूतिरी के घर को सम्मान-सूचक 'इल्लम्' अथवा 'मना' के नाम से ही पुकारना पड़ता था। किसी सामन्त या राजा के घर को 'कोविलकम्' कहना जरूरी था। मगर, साधारण लोग बड़े लोगों से बातचीत करते समय अपने घर के विषय में 'वीडु' अर्थात् 'घर' कहकर भी नहीं समझा सकते थे। उन्हें 'कुप्पपाडु' या 'कुप्पमाटम्' (गन्दा-मैला झोंपड़ा) ही कहना जरूरी था। इसी प्रकार नम्पूतिरी या राजा के हाथ के मामूली पैसे को 'उरुप्पिका' यानी 'चान्दी का सिक्का' और साधारण लोगों के रुपये को भी 'चेम्पुकाशु' यानी ताम्बे का सिक्का ही कह सकते थे। नम्पूतिरी और राजा के नहाने की साधारण क्रिया को 'नीराट्टुक' (पानी से अभिषेक करना) और साधारण लोगों के स्नान को 'चेरु ननयुक' (कीचड़ में भीगना) ही कह सकते थे। नम्पूतिरी और राजा के 'तैल स्नान' को 'ओलिप्पेण्ण चार्तल्' (तैलाभिषेक) और अन्य लोगों के 'तैल-स्नान' को 'मेषुकु पुरट्टल' या 'तोट्टु पुरट्टल्' (चरबी-स्नान) ही कहना पड़ता था। नम्पूतिरी और राजा की वस्त्र धारण प्रक्रिया को भी 'पेरुम्पट्टु चार्तल्' (रेशमी वस्त्राच्छादन) कहते थे और मामूली लोगों के कपड़े पहनने की क्रिया को केवल 'अटि तोल् चुट्टल्'

(सूखे पत्तों का आच्छादन) कहना चाहिए था। नम्पूतिरी और राजा के भोजन का चावल 'अमृतेत्तरि' (पीयूष पूर्ण चावल) कहा जाता था तो दूसरे लोगों का चावल 'कल्लरि' (कंकड भरा चावल) मात्र माना जाता था। नम्पूतिरी और राजा के भोजन को 'अमृतेत्तु' (सुधा-सेवन) कहना चाहिए था और दूसरे लोगों के मामूली अच्छे अन्नाहार को भी 'करिक्काटि' या 'अरिक्काटि' (चावल के धोवन या भात के माँड का पीना) मात्र कहा जाता था। वैसे ही नम्पूतिरी और राजा लोगों के पान-सुपारी खाने की क्रिया को 'इलयमृन' (पीयूष-पत्र) लेना कहना चाहिए था और अन्य लोगों के पान-सुपारी खाने को 'चवरिला' (कूड़-कचरे में फेंका पत्ता) खाना ही कहना आवश्यक था। नंम्पूतिरी और राजा लोगों के निद्रा लेने के साधारण कार्य को 'पळ्ळिक्कोळ्ळल्' या 'पळ्ळिक्कुरुप्पु' (सुख निद्रा) मानते थे और साधारण लोगों की निद्रा की क्रिया को वे 'निलं पोरुङ्ङल' (फर्श पर लोटना) ही कह सकते थे। इस प्रकार के और भी अनेकों विशिष्ट और व्यंजक सांकेतिक शब्दों के विचित्र प्रयोगों के कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

इन बातों से यही प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल के केरलीय-समाज में बड़े और छोटे एवं आश्रय-दाता और आश्रित के बीच में बहुत ही गहरा और अपमानपूर्ण भेद-भाव विद्यमान था जो सर्वथा मानव संस्कृति के लिए अनुचित अवश्य था।

उपसंहार

आखिर केरल के अनेकों प्राचीन आचारों और विचारों से ओतप्रोत केरल-संस्कृति का तटस्थतापूर्ण एवं आलोचनात्मक अध्ययन करने से यह बात साबित होती है कि इस सुन्दर देश में प्रचीन काल से लेकर अभी तक एक अत्यन्त सुखद सभ्यता और अपूर्व संस्कृति का अनवरत विकास होता आ रहा है। यहाँ की सभ्यता में सदैव स्वछचना और सादगी का स्थान सर्वोच्च माना जाता है। संयम और सहिष्णुता को ही यहाँ की श्रेष्ठ संस्कृति की सुदृढ़ आधार-शिलाएँ मान सकते हैं। यहाँ की प्रचीन संस्कृति के विकास में नियंत्रण और सीमा-निर्धारण की प्रक्रिया का विशेष महत्व और अनुष्ठान अवश्य दीख पड़ता है।

केरल की संस्कृति में धर्म और कर्म का सुन्दर समन्वय मिलता है। यहाँ के तथाकथित संकुचित एवं कट्टर विचारों और आचारों के मूल में भी लोक-मंगल की पवित्र भावना को अवश्य देख सकते हैं। अन्यायों और अत्याचारों के प्रति घोर विरोध दिखाना और सर्वदा क्रांतिपूर्ण परिवर्तन लाना यहाँ की विशिष्ट संस्कृति का सबसे मुख्य कार्य-क्रम रहा है। प्रगति और उपयोगिता की दृष्टि से देश और काल के अनुकूल क्रान्ति मचाने की स्वाभाविक प्रक्रिया यहाँ की विकासशील संस्कृति की विशिष्ट देन है। भौतिकता और आध्यात्मिकता का विवेकयुक्त समन्वय यहाँ की संस्कृति की संजीवनी शक्ति है।

केरल के लाखों सुशिक्षित एवं सुसभ्य स्त्री-पुरुष आज अपनी संस्कृति के बल पर ही इस विशाल संसार के हर कोने में जा कर आकर्षक ढंग से अधिवास करते हैं। वर्तमान दुनिया के किसी भी कोने में हम केरल के लोगों को इस समय पा सकते हैं। वे सभी अपने देश की विशिष्ट संस्कृति के प्रतीक और सन्देशवाहक बनकर पृथ्वी के कोने-कोने के लाखों अपरिचित एवं अन्य भाषा-भाषी लोगों के साथ भाई-बहनों की तरह हिल-मिलकर रहते हैं और उन लोगों के मित्र और हितैषी बनने की अद्भुत जीवन-कला अवश्य प्रकट करते हैं। केरल के ऐसे प्रवासी लोगों के जीवन की सरलता, सादगी, स्वच्छता, सहृदयता, सहकारिता, सहिष्णुता, साहस आदि की प्रशंसा संसार भर के लोग बराबर करते हैं। आज अपनी कर्मपटुता, अध्यवसाय, ज्ञानतृष्णा, सहिष्णुता आदि विशिष्ट गुणों के द्वारा केरल के लोग 'विश्व-नागरिक' बनने लगे हैं। प्रशासन, व्यापार, विज्ञान, विज्ञापन, दर्शन धर्म, साहित्य, सिनेमा, कला, भाषा, प्रवास आदि मानव-जीवन के विकास से सम्बन्धित सभी प्रकार के क्षेत्रों में केरल के लोग अग्रसर होते ही रहते हैं। इसीसे उनकी विशिष्ट संस्कृति की व्यावहारिकता और क्षमता का मर्म समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती है। बड़े हर्ष और संतोष की बात है कि केरल के लोग अपनी विरासत और परम्परा से प्राप्त अनेकों विशिष्ट गुणों के द्वारा कतिपय अभिनव आविष्कारों और अनुसंधानों के माध्यम से केरल की संस्कृति की गरिमा और

आदर्श को समस्त विश्व सामने के अभिव्यक्त करते आ रहे हैं, जिससे अब दुनिया के हर कोने में उनकी बड़ी प्रशंसा हो रही है। केरलीय जनता के संपर्क में आनेवाले सभी विदेशी लोग उनकी स्वच्छता और संस्कृति से सर्वथा प्रभावित होते हैं। आधुनिक युग के अनेकों अभिज्ञ विद्वानों का सुदृढ़ मत है कि केरल की संस्कृति को अनाचारों और अन्ध-विश्वासों की संस्कृति कहकर केरल को 'पागलपन का प्रदर्शनालय' घोषित करना बिलकुल अनुचित और अन्यायपूर्ण कार्य है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि "केरल संस्कृति" अनाचारों और अन्ध-विश्वासों की उपेक्षणीय और उपहासास्पद नश्वर संस्कृति कदापि नहीं है, अपितु वह सर्वथा एक अनुपम, अनुकरणीय एवं अपूर्व समन्वयात्मक संस्कृति मात्र है।